

चिन्तन-सृजन

त्रैमासिक

वर्ष 9 अंक 4

अप्रैल-जून 2012

सम्पादकीय परामर्शदात्री समिति

लोकेश चन्द्र

यशदेव शल्य

जे.एन.राय

रमेशचन्द्र शाह

सम्पादक

बी. बी. कुमार

आस्था भारती

दिल्ली

वार्षिक मूल्य :

व्यक्तियों के लिए	60.00 रुपये
संस्थाओं और पुस्तकालयों के लिए	150.00 रुपये
विदेशों में	\$ 15

एक प्रति का मूल्य

व्यक्तियों के लिए	20.00 रुपये
संस्थाओं के लिए	40.00 रुपये
विदेशों में	\$ 4

विज्ञापन दरें :

बाहरी कवर	10,000.00 रुपये
अन्दर कवर	7,500.00 रुपये
अन्दर पूरा पृष्ठ	5,000.00 रुपये
अन्दर का आधा पृष्ठ	3000.00 रुपये

प्रकाशन के लिए भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद द्वारा आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त

आस्था भारती

रजिस्टर्ड कार्यालय :

27/201 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

कार्य-संचालन कार्यालय :

23/203 ईस्ट एंड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110 096

से आस्था भारती के लिए राजेश भार्गव, कार्यकारी सचिव द्वारा प्रकाशित तथा विकास कम्प्यूटर एण्ड प्रिण्टर्स, 1/10753, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-22712454

ई.मेल : asthabharati@yahoo.com

वेब साइट : asthabharati.org

चिन्तन-सृजन में प्रकाशित सामग्री में दृष्टि, विचार और अभिमत लेखकों के हैं। सम्पादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

विषय-क्रम

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य	5
1. नेपाल; तब, अब और भविष्य रामबहादुर राय	9
2. परिवर्तन के प्रजातंत्र का सच जगमोहन सिंह राजपूत	21
3. जनतन्त्र के पुनर्परीक्षण का क्षण कैलाशचन्द्र पन्त	25
4. तुलनात्मक साहित्य : विकासात्मक स्वरूप पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'	30
5. ज्ञान प्रताप मिहिर प्रकासी महेश दुबे	45
6. साहित्यिक आलोचना - आभ्यंतर का उद्घाटन रमेश दवे	68
7. रमेशचन्द्र शाह : आधुनिक भावबोध के कवि डॉ. मनोज पाण्डेय	80
8. डॉ. अंबेदकर और मुस्लिम राजनीति शंकर शरण	89

9.	कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता शोभाकान्त झा	105
10.	उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी सन्दर्भ-नवता के प्रति प्रेरित रमेश दवे	109
11.	गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद वरुण कुमार तिवारी	115
	पाठकीय प्रतिक्रिया	121
	प्राप्ति-स्वीकर	125

सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य

वैचारिक धुंध के कारक

हरि शंकर परसाई ने लिखा है:

“कितने गर्व से हम कहते हैंहमारा देश सबसे महान है। उत्तर में विश्व का सबसे ऊँचा पर्वत हिमालय मस्तक ताने खड़ा है।’ जब कोई गर्व से ऐसा कहता है तो पूछने को मन करता है कि क्या तुम्हारे बाप ने हिमालय को बनाया है? क्या हमारे बाप दादों ने चट्टान पर चट्टान जमाकर नगाधिराज का निर्माण किया है? जड़ का कैसा मोहक गर्व है हमारा? कृतित्व पर गर्व हो तो एक बात है। ... बिना किए जब माथा तन गया, तो करने का कष्ट क्योंकरें? अकर्म का ऐसा बड़ा अनुष्ठान कहीं नहीं हुआ होगा।’

विचित्र कथन! भारत तथा हिमालय की महानता पर गर्व न करो। सोवियत व्यवस्था पर करो। इन पर गर्व तो भारतवासी सदा से ही करता रहा; उसका कृतित्व बाधित नहीं हुआ; भारत विश्व का सबसे धनी देश बना रहा। इतनी सहजता से अपने ज्ञान की सीमाओं को लॉघकर दंभपूर्वक ऐसी असभ्य टिप्पणि भारत का मार्क्सवादी लेखक ही कर सकता है।

वक्तव्य कई प्रश्नों को जन्म देता है। क्या हिमालय हमें अकर्मण्य बनाता है? क्या देश की महानता भूलकर हमें राष्ट्र-द्रोह का रास्ता अपनाना चाहिए, जैसा कि वैचारिक दुराग्रहियों का एक वर्ग करता रहा है? क्या अपने चारो तरफ फैली जड़ प्रकृति से आँखें फेर कर ही कोई कर्मठ हो सकता है? क्या हिमालय की महानता का बोध, उसके प्रति नीजीपन से उपजी सुखानुभूति हमें अकर्मण्य बनाती है? क्या परसाई को इस देश की अकर्मता-सकर्मता का, इसके इतिहास का बोध था? दिनकर ने हिमालय की महानता से उपजा उद्गार अपनी कविता में व्यक्त किया था। क्या उससे उनका कृतित्व बाधित हुआ? क्या हम अपने परिवेश से तभी जुड़ें, उससे निजत्व तभी स्थापित करें जब उसके निर्माण में हमारे बाप दादों का योगदान रहा हो? स्पष्टतः हिमालय या गंगा-ब्रह्मपुत्र या गुलाब की सुन्दरता का निर्माण न हमारे बाप-दादों ने किया था और न ऐसा करना उनके बस की बात थी। फिर भी अपने परिवेश से कटकर हम नहीं रह सकते। परिवेश से जुड़ाव, उससे निजत्व हमारी कर्मठता को बढ़ाने का कारक बनता है, हमारे चिन्तन में सघनता लाता है। और हिमालय तो हमारे बृहत राष्ट्रीय परिवेश का अंग है ही।

भारत में हम अपने परिवेश से, प्रकृति से कभी कटे नहीं रहे। हमने उसे जड़त्व से उपर उठाकर देवत्व प्रदान किया। हिमालय हमारे लिए ‘देवतात्मा’ एवं नदियाँ

देवियाँ थीं। वन हमारी सजीवता के वर्द्धक बने रहे। क्या इससे हमारा विकाश बाधित हुआ? हम पिछड़े बने रहे? उत्तर निषेधात्मक है।

एड्गुस मैडिस्सन ने अपनी पुस्तक *द वर्ल्ड इकानामी* - ए मिल्लिनियल पर्सपेक्टिव में पिछले दो हजार वर्षों की वैश्विक आर्थिक स्थिति का व्योरा दिया है। उसके अनुसार भारत 0 ई. से 1700 ई तक, कुछ समय छोड़कर, विश्व का सबसे धनी देश बना रहा। ईस्वी सन् की शुरुआत में समस्त विश्व की तिहाई सम्पदा भारत में थी। अंग्रेजी राज में दरिद्रता बढ़ी। विश्व सम्पदा में हमारा हिस्सा 1700 ई. के 24.4 प्रतिशत से घटकर 1950 में 4.2 प्रतिशत रह गया। अंग्रेजी राज में दरिद्रता ही नहीं अशिक्षा भी बढ़ी जिसका पूर्ण विवरण धर्मपाल ने अपनी पुस्तक *ब्यूटीफुल ट्री* में दिया है। स्पष्टतः हिमालय से जुड़ाव एवं राष्ट्र बोध हमारी कर्मठता एवं राष्ट्र की समृद्धि में बाधक नहीं बना। अकर्म के अनुष्ठान से कोई राष्ट्र महान तथा समृद्ध नहीं बनता।

पिछले दिनों जनसत्ता (5 मार्च 2012) में विश्व पुस्तक मेले में हुए पुस्तक लोकार्पणों का विवरण छपा था। वाणी प्रकाशन के स्टाल पर सांसद, स्तंभकार तरुण विजय के संग्रह 'मन तुलसी का चौरा' का लोकार्पण नामवर सिंह एवं विभूति नारायण राय ने किया था। इस मौके पर पुस्तक में छपे लेखों की चर्चा करते हुए तरुण विजय ने कहा कि 'पुस्तक में प्रकाशित आलेखों को बीते चार सालों में पूरे मन से जनसत्ता के लिए लिख रहा हूँ। इन आलेखों के जरिए हिन्दू पाखंड एवं दोहरेपन पर चोट करने की मैंने कोशिश की है। तरुण विजय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की पत्रिका 'पाञ्चजन्य' के संपादक रहे हैं; उन्हें संघ का बौद्धिक चेहरा तो माना ही जा सकता है। लेकिन उनकी भाषा? उनके विचार? प्रथमतः मैं "हिन्दू पाखण्ड" एवं 'दोहरापन' के अस्तित्व को ही नकारता हूँ। हिन्दुओं के व्यक्ति-विशेष या वर्ग विशेष के व्यावहारिक विचलन को समस्त हिन्दू समाज पर आरोपित नहीं किया जा सकता। फिर तरुण विजय की भाषा संघ की भाषा तो नहीं ही है। यह सही है कि नामवर सिंह एक लेखक के रूप में उन्हें बड़े स्तर पर स्थापित करा सकते हैं। लेकिन ऐसा उनकी भाषा बोलकर तो नहीं ही प्राप्त किया जाना चाहिए। प्रश्न संघ से भी पूछेजाने चाहिए। क्या संघ के लिए अपने बौद्धिक आधार को सशक्त करने का समय नहीं आया है? क्या समय नहीं आया है कि संघ का नेतृत्व अपनी आत्म-मुग्धता त्याग कर संघ से जुड़ी राजनीति में हमारे मूल्यों को दृढ़ता से स्थापित कराने का प्रयास करे ताकि संघ के गलियारे से भारतीय राजनीति में मलीन तथा कालिख-पुते चेहरे निकलतेन दिखें?

पुस्तक मेले में नामवर सिंह ने महात्मा गांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा जिसके वे कुलाधिपति हैं का प्रकाशन *प्रेमचन्द की शेष रचनाएँ* (लेखक: प्रदीप जैन) के लोकार्पण की अध्यक्षता करते हुए कमल किशोरगोयनका के काम का उल्लेख किया और कहा कि 'कमल किशोर गोयनका सेठ हैं और वे प्रेमचन्द की दुकान लगाकर उन्हें बेच रहे हैं। इतना ही नहीं, गोयनका प्रेमचन्द को हिन्दुत्ववादी रंग में रंग

रहे हैं। यह पुस्तक उनके अंकार को चूर-चूर करेगी और प्रेमचन्द को उस रंग से बाहर निकालने वाली है। गोयनका प्रेमचन्द को जिस रंग में रंगना चाह रहे हैं, यह अकेली पुस्तक उनको जबाब देने के लिए काफी है।” यहाँ यदि हम प्रेमचन्द के साहित्य से जुड़े कमल किशोरगोयनका के महत्वपूर्ण अवदान, उनकी कृति, *प्रेमचन्द विश्वकोश*, जिसकी गोपाल राय द्वारा लिखी विस्तृत समीक्षा नामवर सिंह ने आलोचना में प्रकाशित की थी, को भुला भी दें तो कुछ प्रश्न तो पूछे ही जा सकते हैं। यदि प्रेमचन्द ने *जिहाद* कहानी लिखी, कर्बला नाटक के पात्रों एवं अरबों को अश्वत्थामा का वंशज माना, कर्मभूमि के लाला समरकांत जैसे पात्र का वे निर्माण कर रहे थे, तो क्या वे ऐसा कमल किशोर गोयनका के दबाव में आकर कर रहे थे? तो गोयनका उसका उल्लेख कैसे नहीं करते? फिर गोयनका आज से प्रेमचन्द पर अपनी जाफरानी कूची नहीं चला रहे हैं। ऐसे में प्रलेस, जलेस तथा विश्वविद्यालयों के हिन्दी विभागों, विभिन्न शोध-संस्थानों, प्रकाशन संस्थानों, आदि में फैली नामवर सिंह के चेलों तथा पिछलग्गुओं की सेना प्रदीप जैन के आने की प्रतीक्षा क्यों करती रही? एक प्रश्न और! यदि सेठ (राजकमल प्रकाशन) की नौकरी करना ठीक है, तो प्रकाशक सेठ बनना क्यों नहीं?

सहिष्णुता मार्क्सवादी लेखकों की कमजोरी नहीं रही है। सबसे बड़ी बात है कि गैर-मार्क्सवादी लेखक भी उनके आंतक के शिकार रहते हैं। वैसे किसी मार्क्सवादी का भी यदि अपने सोच के कठघरे से जरा भी पाँव बाहर हुआ कि राम विलाश शर्मा जैसे विद्वान की तरह उसे भी गाली-गलौज का सामना करना पड़ता है। वैसे नामवर सिंह काफी सहिष्णु हो रहे हैं। कुछ समय पहले राम बहादुर राय द्वारा आहूत एक मीटिंग के दौरान मैं उनसे मिला था और वे अज्ञेय को जिस आत्मीयता से याद कर रहे थे, वह सुखद लगा। अपनी बौद्धिक तेजस्विता के चलते वे ऐसा बातावरण बनवाने में सक्षम हैं, जिससे असहिष्णुता की दीवार टूटे, लेखकों के बीच आवाजाही बढ़े; परस्पर संवाद कायम हो। इसके लिए विषय एवं तथ्य की केन्द्रीयता आवश्यक है, न कि लेखक एवं विचारधारा की। बौद्धिक संस्कृति में बदलाव के बिना ऐसा संभव नहीं। बदलाव की पहल होना चाहिए। वैसे काम कठिन है। विष्णु खरे ने संघ एवं शिवसेना समर्थक कवि नामदेव ढसाल की पुस्तक का लोकार्पण किया। मंगलेश डबराल एक दक्षिण पंथी विचारमंच पर गये। भारत भवन में एक ही मंच पर गोविन्दाचार्य के साथ रहे। उदय प्रकाश ने आदित्यनाथ के साथ मंच की सहभागिता की। वैसे डबराल तथा उदय प्रकाश के साथ ऐसा अनजाने में हुआ था, पर खिंचाई तो सबकी हुई ही। कम्युनिस्ट लेखक अपने खेमे के बाहर के लोगों से दोस्ती अपनी शर्त पर करता है; दोस्त को धौंस में रखता है। जरा सी बात न मानी तो घातक शब्दावली का प्रयोग करता है। ओम धानवी वर्षों आनन्द स्वरूप वर्मा का लेख जनसत्ता में छापते रहे। उन्होंने माओवादियों संबंधी एक लेख में जनयुद्ध शब्द पर इनवर्टेट कोमा क्या लगा

दिया, कि “अत्यन्त अनैतिक और निकृष्ट कोटि का सम्पादक” बन गये। वैसे कम्युनिस्ट लेखक अपने सेठ मालिकों, जैसे सहारा, से बिल्कुल बदतमीजी नहीं करता।

आज हम घोर वैचारिक धुंध के शिकार हैं। इसके सबसे बड़े कारक कम्युनिस्ट तथा मैकालेवादी लेखक रहे हैं। किन्तु दूसरे भी कम दोषी नहीं। इस देश का स्थापित व्यक्ति बार-बार अपने ज्ञान की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। जाने या न जाने हर विषय पर लिखता और बोलता है। बातें विस्तार खोजती हैं, जो इस छोटी सी टिप्पणि में संभव नहीं। बात छुटभैयों की नहीं होनी चाहिए; लेकिन स्थापितों के साहित्य का सघन अध्ययन एवं अपेक्षित सुधार तो आवश्यक है ही। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचार हैं:

“देखो महाराज, पश्चिम की ओर से जो महान इस्लाम आ रहा है उसे ठीक-ठाक समझा। उसके एक हाथ में अमृत का भाण्ड है, दूसरे में नग्न कृपाण। वह समानता का मंत्र लेकर आया है, सड़े-गले आचारों को चुनौती देने का अपार साहस लेकर उद्भूत हुआ और रास्ते में जो भी बाधक हो उसे साफ कर देने का संकल्प लेकर निकला है। उसने लाखों-करोड़ों को पैरों तले दबाकर उनकी माँस-मज्जा की दूह पर प्रासाद खड़ा करने की त्रुटि नहीं दिखाई है। विचित्र है उसकी प्राणदायिनी शक्ति, अपूर्व है उसका दलितोत्थान संकल्प। सहस्रों दलितों को उसने तलवार की नोंक पर उठाकर ऊँचा आसन दे दिया, सैकड़ों जंगली जातियों को उसने एक झटके में रुढ़ियों और परम्पराओं के मलबे से दूर फेंक दिया, इसके महामंत्र के प्रभाव से कल तक बर्बर समझी जाने वाली जातियाँ विश्व-नेतृत्व की लालसा से मत्त हो उठती हैं।”

उल्लिखित बातें तथ्यतः गलत हैं। धर्म संबंधी ऐसी गलत स्थापनाएँ द्विवेदी जी ने बार बार की है। इसकी चर्चा मैं विस्तृत लेख में करूँगा। लेकिन एक बात तो कहना चाहूँगा ही कि नामवर सिंह का “दूसरी परम्परा” का महल बालू की भीत पर खड़ा है।

दिनकर इतिहास के अध्येता भी रहे। लेकिन इतिहास संबंधी गलत स्थापनाएँ, विशेषतः अरबों एवं इस्लाम संबंधी, उनकी भी रही हैं। इसके कारण खोजना कठिन नहीं।

ब्रज बिहारी कुमार

नेपाल; तब, अब और भविष्य

रामबहादुर राय*

नेपाल अस्तित्व और अस्मिता के संघर्ष में पिछले चार सालों से बहुत गहरे उलझा हुआ है। सैकड़ों साल से जो समुदाय सत्ता प्रतिष्ठान का अंग रहा है उसके लिए अस्तित्व का प्रश्न खड़ा हो गया है। जो अपने लिए सत्ता में जगह ढूँढ़ रहे थे और इसकी लड़ाई लड़ रहे थे उनके लिए अस्मिता का प्रश्न सबसे बड़ा है। वे सत्ता के ढाँचे को संघीय स्वरूप देकर अपनी अस्मिता को सुरक्षित करने में लगे हुए हैं। ये प्रश्न ऐतिहासिक हैं। इन्हें सुलझा पाने में नेपाल का राजनीतिक नेतृत्व खुद उलझ गया है।

पहचान की राजनीति को 1990 के संविधान से हवा मिली। उसमें ही शासन के संघीय स्वरूप की माँग उठी। कारण यह था कि 1990 में जो लोकतंत्र का प्रयोग शुरू हुआ उसमें क्षेत्रीय और जातीय समूहों को सत्ता में हिस्सेदारी नहीं मिली। वे अपनी पहचान से भी वंचित रहे। इससे एक असंतोष पैदा हुआ। जिसका फायदा आखिरकार माओवादियों को मिला।

माओवादी 2006 से नेपाल की राजनीति में निर्णायक भूमिका निभा रहे हैं क्योंकि उनके दस साला सशस्त्र संघर्ष से राजतंत्र समाप्त हुआ। उससे माओवादी नेपाल की राजनीति के केंद्र में स्थापित हो गये। 13 अप्रैल 1996 को नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) ने सशस्त्र संघर्ष छोड़ा था।

1990 से पहले नेपाल के राजा ने एक राष्ट्रीय संस्कृति रची थी। उसमें सवर्ण जातियों का बोलबाला था। राष्ट्रीय संस्कृति की तीन पहचान थीहिंदुत्व, नेपाली भाषा, एक वेशभूषा। लोकतांत्रिक संविधान से इसका महत्त्व कम होने लगा। दूसरी तरफ जाति, जातीयता और क्षेत्रीय पहचान की आकांक्षा पैदा हुई। जो अंततः दस साला गृहयुद्ध में बदल गई, जिससे 28 मई 2008 को नेपाल की सत्ता व्यवस्था पूरी तरह बदल गई। सत्ता का चेहरा जो बदला उससे नेपाल एक गणराज्य बना।

*लेखक वरिष्ठ पत्रकार तथा 'प्रथम प्रवक्ता' पक्षिक के सलाहकार सम्पादक हैं।

इस परिवर्तन की सक्रिय प्रक्रिया 2005 में तब प्रारंभ हुई जब सात संसदीय दलों और माओवादियों में बारह सूत्री समझौता दिल्ली में हुआ। इन बेमेल विचारों की राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधियों को एक मंच पर पहुँचाने में राजा ज्ञानेंद्र के कदम का बड़ा योगदान था। उन्होंने कुछ ही दिन पहले सत्ता पर कब्जा जमा लिया था। देश में आपातकाल की घोषणा कर दी। संसद को भंग कर दिया। इससे बेमेल राजनीतिक पार्टियों को तिनके का सहारा मिला। संसदीय राजनीति में विश्वास करने वाली पार्टियों का उस समय कोई खास जनाधार नहीं था। माओवादियों ने उन्हें आश्वस्त किया कि वे अगर जन-आंदोलन शुरू करते हैं तो उन्हें पार्टी पूरी मदद करेगी। माओवादी अपने संघर्ष को उस समय निर्णायक मोड़ पर पहुँचाना चाहते थे। जनआंदोलन ने अवसर दिया। राजा ज्ञानेंद्र झुके। संसद बहाल हुई। सरकार और माओवादियों में वार्ता के दौर चले और फिर विस्तृत समझौता हुआ। 2007 में माओवादी सरकार में शामिल हुए। उस सरकार ने सत्ता के चेहरे को बदलने का फैसला किया। जो बदलाव आया उससे तमाम समूहों में एक आकांक्षा पैदा हुई। वे नये शासन में बड़ी भूमिका खोजने लगे। जहाँ राष्ट्रीय पहचान का विस्तार हुआ वहाँ अभिजन वर्ग में असुरक्षा का भाव पैदा हुआ।

इसका एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य है। मुलकी आइन 1854 का है। तभी से 1951 तक राणाशाही रही। जिसमें जातियों का एक कानूनी श्रेणी विभाजन हुआ। इसे इस तरह समझा जा सकता है कि अगर कोई मधेशी नागरिकता के लिए आवेदन करता है तो पहले यह देखा जाता है कि वह भारतीय तो नहीं है। इसी तरह यह एक सच्चाई है कि पहाड़ी ब्राह्मणों का राजनीति और प्रशासन में वर्चस्व कायम है। उदाहरण के तौर पर 1990 से बने सोलह प्रधानमंत्रियों में पंद्रह ब्राह्मण रहे और एक क्षेत्रीय। नेपाल में जाति और जातीयता का भेदभाव जितना पुराना है उतना ही पुराना उसका विरोध का इतिहास भी है। उसे न्याय के लिए संघर्ष भी कह सकते हैं। उसी विरोध की राजनीति से 1950 में नेपाल तराई कांग्रेस का जन्म हुआ जिसने हिन्दी और रोजगार की मांग उठाई। राजा महेंद्र के जमाने में विरोध का स्वर धीमा हुआ क्योंकि पंचायत प्रणाली में प्रतिनिधित्व प्राप्त था और भेदभाव पहले से कम था। पंचायत प्रणाली से बहुदलीय लोकतंत्र बनने पर जातीय समूहों की मांगों में बढ़ोतरी हुई। नये संविधान ने जाति, जातीयता और क्षेत्रीय समूहों को मान्यता दी लेकिन उसने राष्ट्रीय पहचान को पहले की भाँति बनाये रखा।

इस देश में नेपाली कांग्रेस लोकतंत्र के प्रयोग की पार्टी रही है। राजा महेंद्र ने 1962 में नई संवैधानिक व्यवस्था बनाई। उससे दलविहीन पंचायत प्रणाली लागू की गई। इस संविधान में राजा सर्वोपरि था। संप्रभुता उसमें निहित थी। वह प्रणाली नेपाल में एक दशक तक ठीक-ठाक चली। राजा वीरेंद्र के समय में पंचायत प्रणाली पर प्रश्न खड़े होने लगे। उसका विरोध भी हुआ पर वह प्रभावी नहीं हो सका। 1985 में नेपाली कांग्रेस ने बहुदलीय प्रणाली के लिए आंदोलन चलाया।

जब माओवादियों की आवाजें नेपाल की पहाड़ियों से होते हुए काठमांडू पहुँची और नेपाली कांग्रेस ने उसमें अपना स्वर मिला दिया तब एक जन-आंदोलन बना। वह सफल हुआ। पंचायती राज व्यवस्था खत्म हुई। उससे नये संविधान की रचना का मार्ग बना। इस तरह राजा महेन्द्र का बनवाया संविधान करीब तीस साल चला। नेपाली कांग्रेस के आंदोलन से 1990 में जो संविधान बना उसमें संप्रभुता जनता में आई। नई राजनीतिक व्यवस्था बनी। जिसमें राजा की भूमिका भी महत्वपूर्ण बनी रही। वे सरकार बना और हटा सकते थे। इस नये संविधान से लोकतंत्र की आकांक्षा पैदा हुई।

नेपाली कांग्रेस ने अपने आंदोलन से बहुदलीय प्रणाली हासिल कर ली, लेकिन वह उसे सफलतापूर्वक चला नहीं पाई। बहुदलीय प्रणाली के अंतर्विरोध से माओवादियों को बल मिला। माओवादी 13 फरवरी 1996 को जनयुद्ध की घोषणा का दिन मानते हैं। लोकतंत्रवादियों की नजर में वह दिन नेपाल में गृहयुद्ध की शुरुआत का है। जनयुद्ध कहे या गृहयुद्ध ज्यादा फर्क नहीं पड़ता, सिवाय संबोधन के। अपने जनयुद्ध की घोषणा से पहले माओवादियों ने माँग की थी कि देश को नया संविधान चाहिए। इस माँग में उनका घोषित उद्देश्य समाया हुआ है। वे इसे 'सामाजिक संरचना में आमूल परिवर्तन' का लक्ष्य कहते हैं। वास्तव में वे 'कम्युनिस्ट रिपब्लिक' बनाने की लड़ाई लड़ रहे हैं। इसके लिए ही माओवादियों ने जनयुद्ध चलाया। माओवादियों ने सही समय का चुनाव किया। तब नेपाली कांग्रेस की सरकार गिर गई थी। मध्यावधि चुनाव हुआ था जिसमें नेपाल के इतिहास में पहली बार एक कम्युनिस्ट सरकार बनी थी, हालाँकि वह माओवादियों की प्रतिद्वंद्वी एमाले की सरकार थी। वे जब सशस्त्र संघर्ष में उतरे तब उन्हें तराई के पूर्वी और मध्य हिस्से में जबरदस्त समर्थन मिला। इसका बड़ा कारण यह था कि माओवादियों ने उस क्षेत्र की पुरानी माँग को नये शब्दों में दोहराया और क्षेत्रीय स्वायत्तता का नारा बुलंद किया। माओवादियों की वह रणनीति रंग लाई। उस क्षेत्र के लोगों ने उनके नारे में अपने सपने को देखा। वे माओवादियों के पीछे न केवल चल पड़े बल्कि उन्हीं की तरह हथियार भी उठा लिया। उस इलाके में यादवों ने अपना नाता माओवादियों से जोड़ा। उन्हें संगठन बनाने की जरूरत नहीं पड़ी। विरादरी का बना बनाया संगठन उनके काम आया।

इन दस सालों की उथल-पुथल को गहरे उतर कर देखना जरूरी हो गया है। यह तीन चरणों में घटित हुआ है। एक, राजा वीरेन्द्र के समय में लोकतांत्रिक ताकतों का उभार हुआ। दूसरा चरण दुःखद है पर उसी से परिस्थिति बदली और खराब होती गई। एक षडयंत्र में राजा वीरेन्द्र और उनके परिवार की हत्या हो गई। कोई नहीं जानता कि षडयंत्रकारी कौन था क्योंकि सच सामने नहीं आया हालाँकि यह भी उतना ही सच है कि नेपाल के करीब 250 साल के इतिहास में ऐसे महल के षडयंत्र पहले भी हुए हैं। तीसरा चरण शुरू हुआ जब सत्ता परिवर्तन हो गया और राजा ज्ञानेंद्र ने सत्ता सँभाल ली। इन दस सालों में हिंदू समर्थक शक्तियों और समूहों को जितना ध्यान

नेपाल पर देना चाहिए था उसका अभाव रहा। भारत सरकार का रवैया दुलमुल था और उसने यह समझ लिया था कि लोकतंत्र समर्थक नेपाली कांग्रेस का प्रभुत्व बना रहेगा। साधु संत भी उदासीन रहे राजा वीरेन्द्र और उनके परिवार की हत्या से उपजी राजनीति पर ज्यादा सोचा नहीं गया। उस समय नेपाल की वस्तु स्थिति का सही मूल्यांकन होना चाहिए था। राजा ज्ञानेंद्र के सत्ता संभालने से जो परिस्थिति पैदा हुई वह माओवादियों के लिए अनुकूल सिद्ध होती गई। इसका बड़ा कारण राजा ज्ञानेंद्र की सतरंगी छवि रही। उनके बारे में धारणा बनी कि वे आईएसआई की ओर झुके हुए हैं। भारत सरकार के पास इस बारे में एक रिपोर्ट है, जिससे पता चलता है कि नेपाल में आईएसआई की तस्करी का एक जाल बिछा हुआ है। उसका कारोबार करीब दस हजार कारोड़ रूपए का है। जिसमें सोने की तस्करी का हिस्सा बहुत बड़ा है और उसे दाऊद इब्राहिम का गैंग चलाता है। उसमें नेपाल के राजनीतिक भी बड़ी संख्या में लाभ कमाते हैं। ज्ञानेंद्र पर महल के षडयंत्र का भी संदेह आम लोगों की जेहन में है। उनकी छवि भारत विरोधी की है। इसी तरह उन्हें लोकतंत्र विरोधी माना जाता है और चीन का समर्थक माना जाता है। राजा ज्ञानेंद्र की इस छवि से माओवादियों को बहुत लाभ हुआ।

लेकिन जब सत्ता राजनीति के केंद्र में माओवादी आए तब यह महसूस किया गया कि वे क्षेत्रीय स्वायत्तता को मधेस में अपने जनाधार के लिए इस्तेमाल करते रहे हैं। इस अहसास से भावनाओं को चोट पहुंची और अपनी मांग के लिए मधेसी नेताओं ने आंदोलन शुरू किया, जिससे माओवादी बहुत कमजोर होते गये। वैचारिक अंतर्विरोध और स्थानीय जातीय समूहों में दलीय विभाजन के कारण इस क्षेत्र में निरंतर तनाव बना हुआ है।

विभिन्न राजनीतिक दलों और माओवादियों में 2005 तक एक सूत्री सहमति थी कि राजशाही का विरोध करना है। यही छिलका उन्हें एक रखता था। राजशाही के अंत ने इनकी एकता की पोल खोल दी। जैसे ही सशस्त्र संघर्ष का समझौते में बदलाव हुआ वह एकता विखरने लगी। उस समझौते से संघीय स्वरूप को संस्था में बदलने का चुनौतीपूर्ण कार्य सामने आया। वे राजनीतिक परिवर्तन के आंधी और तूफान के क्षण थे। 15 जनवरी 2007 को संसद ने अंतरिम संविधान स्वीकार किया। उसके प्रारूप निर्माण के दौरान मधेसी और जन जाति नेताओं ने संघीय स्वरूप को सम्मिलित कराने के विफल प्रयास किए। संघीय ढांचे का समर्थन माओवादियों ने अंतरिम संविधान के प्रारूप निर्माण के समय दबी जबान से किया, लेकिन नेपाली कांग्रेस और एमाले के विरोध पर वे चुप हो गए। अंतरिम संविधान ने राज्य के पुनर्गठन को तो माना, पर संघीय ढांचे का जिक्र तक नहीं किया।

इससे तराई इलाके में विरोध की लहर चल पड़ी। जो फैलती गई। मधेशी जनाधिकार फोरम और नेपाल सदभावना पार्टी के अलावा अनेक संगठनों के नेताओं

ने उसका नेतृत्व किया। इनकी मांगों की सूची लंबी है, लेकिन उसे न्याय की लड़ाई की छतरी के रूप में देख सकते हैं। उस आंदोलन में शामिल पार्टियों में से तीन सरकार में हैं। तराई की एक ही मांग हैमधेसी राज्य बनाओ। आंदोलन के उफान को देखकर 31 जनवरी 2007 को प्रधानमंत्री गिरजा प्रसाद कोइराला ने टेलीविजन पर घोषणा की कि संघीय स्वरूप को मान लिया जाएगा। वह आंदोलन तभी शांत हुआ जब 12 अप्रैल 2007 को अंतरिम संविधान में संशोधन कर राज्यों के लोकतांत्रिक और संघीय आधार पर पुनर्गठन की बात मान ली गई। इससे थोड़ी राहत मिली। लेकिन यह समाधान नहीं माना जा सकता। मधेसियों में यह भावना भरी हुई है कि वे अन्याय के शिकार हैं। उनकी कोई सुनवाई नहीं होती। उनके साथ हर तरह का भेदभाव किया जाता है। शासन और प्रशासन में उनका उचित प्रतिनिधित्व नहीं है।

संविधान सभा का चुनाव अप्रैल 2008 में हुआ और संविधान सभा के गठित होने पर राजनीतिक दलों में जिन बातों पर आम सहमति बनी, वे हैं : एक, राजतंत्र की जगह लोकतंत्र हो। दो-हिंदू राष्ट्र की जगह ही धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र हो।

काठमांडू में हुए इस परिवर्तन का मुख्य संदेश एक ही है कि अब नेपाल का भारत से भरोसा टूट गया है और जिन आशाओं से नेपाल की जनता पहले भारत की ओर देखती थी, अब वह चीन और अमेरिका की ओर देखने लगेगी। हमने लोगों का और समाजों का धर्मांतरण होते देखा, लेकिन एक पूरे हिंदू राष्ट्र का सेकुलर पंथ में मतारण किया गया, यह पहली बार देखा है और यह समझ नहीं आता कि सबसे संप्रग सरकार बनी हैं, तब से देश और विदेश में केवल हिंदुओं की संवेदनाओं और उनके प्रतीकों पर ही प्रहार क्यों हो रहा है। नेपाल में लोकतंत्र की सफलता का स्वागत होना ही चाहिए। लोकतंत्र सभी हिंदू संगठनों और हिंदू समाज के स्वभाव का मूल अंग एवं विशिष्टता है। परंतु लोकतंत्र के आने और नेपाल के हिंदू राष्ट्र के प्रतीकात्मक स्वरूप में टकराव क्यों देखा गया?

नेपाल का हिंदू राष्ट्र बने रहना नेपाल की सांस्कृतिक परंपरा की धारा और वैश्विक हिंदू समाज के लिए मनोबलवर्द्धक था। परंतु यह नहीं रहने से सब कुछ समाप्त हो गया, यह मानना भी भूल होगी। पिछले अनेक वर्षों से यह दिख रहा था कि नेपाल का राजतंत्र और उसकी सांविधानिक हिंदू राष्ट्र वाली छवि खतरे में है। राजशाही के लोगों या राजतंत्र की हिंदू धर्म के विकास में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उन्होंने नेपाल में किसी सशक्त सुधारवादी भविष्योन्मुखी एवं परिवर्तनशील हिंदू आंदोलन को पनपने नहीं दिया। उनका निहित स्वार्थ इसमें था कि नेपाली जनता छोटे-छोटे कर्मकांड को ही धर्म मानती रहे और वे उनके अज्ञान और भोलेपन का लाभ उठाकर हिंदू धर्म सम्राट के रूप में अपनी स्थिति बचाए रखें।

दूसरी ओर, नेपाल अंतर्राष्ट्रीय षड्यंत्रों की क्रीड़ाभूमि बनता गया। भ्रष्ट शासन तंत्र, कमजोर और जन विमुख प्रशासन तथा अपरिपक्व राजनीतिक नेतृत्व ने जहां

नेपाल के ग्रामीण क्षेत्रों में पिछड़ापन, गरीबी, निरक्षरता और राजनीतिक चेतना के अभाव की समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया, वहीं इन कारणों से उपजते असंतोष को विदेशी सूत्रधारों द्वारा संचालित माओवादी आंदोलन तथा ईसाई स्वयंसेवी संस्थाओं ने अपनी योजनाओं के लिए खुले तौर पर इस्तेमाल किया। वर्ष 1996 से अब तक केवल माओवादी आतंकवाद के कारण पूरे नेपाल में 16 हजार लोग मारे गए, उनके द्वारा तीन हजार पुलिस चौकियां ध्वस्त की गईं। 100 से ज्यादा बैंक लूटे गए। 10 हवाई अड्डों को क्षतिग्रस्त किया गया और लाखों लोग, जिनकी संख्या 20 से 30 लाख तक बताई जाती है, अपने गांव छोड़कर सीमावर्ती क्षेत्रों, जैसे भारत, भूटान गए और जो समर्थ थे, वे विदेशों में सुरक्षा के लिए चले गए।

इसी दौरान राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संचार की दृष्टि से नेपाल में भारत विरोधी माहौल भी अचानक सबल और पुष्ट किया जाने लगा। यह वही समय था, जब नेपाल में मिर्जा दिलशाद बेग के माफिया ने विभिन्न मौकों पर अफवाहों का सहारा लेकर भारत विरोधी आंदोलन खड़े किए और वहां के ऐसे ही एक संदिग्ध पृष्ठभूमि वाले टेलीविजन की भूमिका भारत विरोध के संदर्भ में इतनी खुलकर सामने आई थी कि भारत सरकार ने उसके बारे में प्रकट शिकायत की थी। हिंदू मूलतः लोकतंत्रनिष्ठ मुक्त संवाद और स्वतंत्र विचार का समर्थक समाज है, इसीलिए अपने धार्मिक हितों के लिए विशेष संरक्षण की मांग के बजाय दूसरे संप्रदाय और पंथों को विशेष संरक्षण के अवसर जुटाना, यह केवल उन्हीं देशों में संभव हुआ है, जहां हिंदू बहुमत में हैं। माओवादी कम्युनिस्ट आतंकवादी भी अपनी सर्वहारा की क्रांति केवल हिंदू समाज में और हिंदुओं के विरुद्ध ही केंद्रित करते हैं। माओवादी कम्युनिस्टों ने नेपाल में हिंदू मंदिरों को अपवित्र किया, गांव-गांव में संस्कृत की पाठशालाएं बंद कराईं। हिंदुओं को जनेउ और शिखा रखने से प्रतिबंधित किया। परंतु किसी भी गैर हिंदू को अपनी क्रांति का निशाना बनाना उसने राजनीतिक लाभ की बात नहीं समझी।

इस तरह के उथल-पुथल से निकल कर जो संविधान सभा बनी वह समानुपातिक प्रणाली और प्रत्यक्ष चुनाव से गठित हुई। 601 सदस्यों की संविधान सभा है। उसमें 240 सदस्य प्रत्यक्ष चुनाव से, 335 सदस्य अनुपातिक प्रतिनिधित्व से और 26 सदस्य मनोनीत हैं। संविधान के लिए तेरह कमेटियाँ काम कर रही हैं। राजनीतिक दलों में स्पष्टता नहीं है और हर दल के अंतर्विरोध खुलकर सामने आ गये हैं। नेपाली कांग्रेस और एमाले के नेता जानते हैं कि संघीय प्रणाली के लागू नहीं किए जाने पर माओवादी हवा हो जायेंगे। उनके पैर की जमीन खिसक जाएगी। उनका जनाधार विखर जाएगा। इस राजनीति के चलते वे संविधान को बनाने के रास्ते में अड़ंगे लगा रहे हैं।

जितनी देर हो रही है उससे माओवादियों का वैचारिक अंतर्विरोध बढ़ता जा रहा है। उनमें दो राजनीतिक लाइन साफ-साफ खिंच गई है। वह शांति और विद्रोह के दो

घड़ों की राजनीति है। प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई और नेकपा (माओवादी) के अध्यक्ष पुष्प कमल दहाल प्रचंड शांति प्रक्रिया और संविधान निर्माण के पक्षधर हैं। इनका तर्क है कि शांति प्रक्रिया युद्ध काल का हिस्सा है। उसे हमें पूरा करना चाहिए फिर पूरी प्रक्रिया का सही आकलन हो सकता है। दूसरी तरफ पार्टी के उपाध्यक्ष मोहन वैद्य (किरण) और अन्य नेता हैं जो चाहते हैं कि फिर से सशस्त्र संघर्ष जरूरी हो गया है। इनका तर्क है कि संविधान अगर बन भी गया तो वह समझौते का होगा। इस दो लाइन की लड़ाई में माओवादी कमजोर होते जा रहे हैं। यह मतभेद उस समय खुलकर सामने आया जब जुलाई 2011 में ललितपुर के धोबीघाट में किरण गुट ने जो बैठक की उसमें प्रचंड को नहीं बुलाया और बाकी नेताओं को बुलाया। जहां पार्टी में बढ़ रहे केंद्रीकरण के विरुद्ध प्रस्ताव पारित हुआ। साफ है कि यह प्रस्ताव प्रचंड के खिलाफ था। दूसरी मांग थी कि बाबूराम भट्टराई को प्रधानमंत्री बनाया जाए। इसे प्रचंड ने मान लिया और सितंबर 2011 में बाबूराम भट्टराई प्रधानमंत्री बने। प्रचंड ने किरण गुट की अभियानी योजना पर अपने राजनीतिक कौशल से पानी फेर दिया है। पर्यवेक्षक मानते हैं कि वैद्य जिस विद्रोह की बात करते हैं वह असंगत है। प्रचंड ने 'हिन्दू' अखबार को एक इंटरव्यू दिया जो 16 अप्रैल को छपा है। उसमें उन्होंने माना है कि मोहन वैद्य 'किरण' का एक धड़ा है जो उनका विरोध कर रहा है। प्रचंड ने स्वीकार किया है कि माओवादी दो धड़े में बँट गये हैं। एक धड़ा सेना में समायोजन को रोकना चाहता है और उसे दूसरी पार्टियाँ शह दे रही हैं। उनके इंटरव्यू से यह निकलता है कि प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई और प्रचंड में ज्यादातर बातों पर सहमति है। ये दोनों चाहते हैं कि नये संविधान में राष्ट्रपति प्रणाली अपनाई जाए। इसका अर्थ है कि राष्ट्रपति को जनता चुनेगी और प्रधानमंत्री को संसद। इसी तरह नेपाल के संघीय स्वरूप के बारे में ये दोनों इस मत के हैं कि चौदह राज्य बनने चाहिए। साफ है कि माओवादियों में टकराव है और वह नीतियों पर नहीं है, असल में उनमें अहम की लड़ाई छिड़ गई है कि पार्टी पर किसका कब्जा रहेगा। यह लड़ाई बढ़ती जाएगी।

संविधान सभा की अवधि दो साल की तय की गई थी। इस हिसाब से 28 मई 2010 से पहले संविधान का निर्माण हो जाना चाहिए था। ऐसा हो नहीं सका इसलिए संविधान सभा की अवधि एक-एक साल के लिए दो बार बढ़ाई गई है। सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दे दिया है कि अब वह अवधि नहीं बढ़ाई जा सकेगी। इस तरह 28 मई 2012 की तारीख संविधान निर्माण के लिए अंतिम होगी।

संविधान के बनने में अनेक बाधाएँ हैं। वे मुख्यतः दो प्रकार की हैं। एक-आंतरिक। दोबाहरी। संविधान सभा में सम्मिलित राजनीतिक दल अपने मतभेद मिटा नहीं पा रहे हैं। जिन बातों पर मतभेद है, वे हैं एक, संघीय प्रणाली का स्वरूप, दो, प्रांतों का गठन का आधार और उनकी संख्या क्या हो। क्या प्रांतों के गठन में पहचान और राज्यों की संख्या के लिए कोई फार्मूला निकल सकेगा? तीन, प्रांतों में

जिलों का पुनर्गठन किस आधार पर हो; अभी 75 जिले हैं, चार, माओवादी हथियार बंद सैनिकों का सेना में समायोजन कैसे हो; पांच, शासन राष्ट्रपति प्रणाली की हो या प्रधानमंत्री प्रणाली की हो। संविधान निर्माण की प्रक्रिया ऐसी है कि कोई भी विषय ग्यारह चरणों से गुजरता है और फिर वह संविधान का अंग बनता है। पिछले दिनों नेकपा (माओवादी), नेपाली कांग्रेस और एमाले के नेताओं की बैठक बिना किसी निर्णय के समाप्त हो गई। इन नेताओं में सत्यता और सुलह (द्वुथ एंड रिकान्सिलियेशन) आयोग के गठन पर भी असहमति बनी रही। उस बैठक में प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई, प्रचंड, नेपाली कांग्रेस के नेता शेर बहादुर देवबा और रामचंद्र पौडियाल तथा एमाले के प्रमुख झलनाथ खेनाल उपस्थित थे।

प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई के बारे में यह माना जाता है कि वे अपने सहयोगी और पूर्व प्रधानमंत्री प्रचंड के विपरीत भारत-नेपाल संबंधों को बेहतर बनाना चाहते हैं। इसी साल मार्च में प्रधानमंत्री भट्टराई ने हिंदू अखबार से खास बातचीत में कहा कि वाम और दक्षिणपंथ के अतिवादी शांति प्रक्रिया में अड़चनें डाल रहे हैं। तब उनका इशारा जिस ओर था उसे हाल के अपने इंटरव्यू में प्रचंड ने दोहराया है। जल्दी ही जो विवाद जन्म लेगा वह राष्ट्रीय एकता की सरकार के गठन पर होगा। उसी से जुड़ा हुआ प्रश्न होगा कि संविधान बन जाने के बाद चुनाव के समय सरकार का नेतृत्व कौन करेगा? बाबू राम भट्टराई कह चुके हैं कि वे आम सहमति से बनी राष्ट्रीय एकता की सरकार का नेतृत्व कर रहे हैं जबकि नेपाली कांग्रेस का दावा है कि सहमति इस बात पर बनी थी कि संविधान बनने के बाद सरकार का यह नेतृत्व बदलेगा और नेपाली कांग्रेस के नेता को प्रधानमंत्री बनाया जाएगा जो चुनाव करवाएगा। नेपाली कांग्रेस के नेता शेर बहादुर देवबा कई बार बोल चुके हैं कि संविधान नहीं बनेगा इसलिए हमें 1990 के संविधान को मानने और लागू कराने के लिए तैयार रहना चाहिए। भविष्य की राजनीति का यह स्पष्ट संकेत है। प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई की नजर में शांति प्रक्रिया, संविधान निर्माण और राष्ट्रीय सरकार के लक्ष्य को पाना पहली प्राथमिकता है। इसके लिए वे नेपाली कांग्रेस और दूसरी पार्टियों को सरकार में शामिल कराने के प्रयास में लगे हुए हैं। वे अगर सफल हो गये तो संविधान बन जाएगा और फिर नई सरकार का प्रश्न खड़ा होगा। 2006 में आम सहमति बनी थी कि राजनीतिक और वैचारिक मतभेद भूलाकर मजबूत और ठोस संविधान बनाना है। लेकिन उस आम सहमति की जगह अब सत्ता की राजनीति हो रही है।

यह देश अपनी जर्जर हालत से निकलने के लिए तड़प रहा है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जड़ता को तोड़े बगैर नेपाल अपनी हालात सुधार नहीं सकता। लेकिन, इस समय नेपाल में एक और समस्या जटिल हो गई है। वह वैचारिक दुराग्रह की है। वास्तविकता से दूर अपने वैचारिक दुराग्रह से माओवादी देश को चलाना चाहते हैं। चीन में माओवाद का नाम लेना अपराध है। माओवाद को वहाँ

दफनाया जा चुका है। वहाँ माओवाद को कब्र से उठने की भी इजाजत नहीं है, लेकिन भारत और नेपाल में माओवाद न केवल जिंदा है बल्कि राजनीतिक समस्याओं का एक बड़ा कारण बन गया है। वास्तव में माओवादी नेपाल में 'कम्युनिस्ट रिपब्लिक' की स्थापना का सपना सँजोए हुए हैं। वे भारत से अपनी शर्तों पर संबंध बनाये रखने के पक्ष में हैं। वे भारत के विरोध में खड़ा होना ही क्रांतिकारिता मानते हैं। नेपाल की उन्नति तभी संभव है जब उसका भारत से संबंध जैविक हो और उसी तरह का हो जैसे शरीर का पैर और भुजाओं से होता है।

राजाशाही के दौर में और उसके बाद भी नेपाल की सत्ता चीन से बेहतर संबंधों के प्रयास करती रही है। इधर कुछ सालों से चीन भी नेपाल के प्रति उदार हुआ है। नतीजतन चीनी कारोबार नेपाल में पसर रहा है। सड़क, पुल आदि में भी चीन का पैसा बिछने लगा है। ऐसे में माओवादियों में यह धारणा बलवती होती चली गई कि नेपाल का ढाँचा सुधारने के लिए भारत का सहयोग जरूरी नहीं है, जबकि हकीकत दूसरी है कि उद्योग, शिक्षा, बिजली और संस्कृति में उन्नति के लिए नेपाल को भारत का सहारा चाहिए ही। नेपाल को इन क्षेत्रों में भारत का सगुण उपासक बनाना होगा। इसी तरह तकनीक और युवा शक्ति के मामले में नेपाल का सबसे बड़ा सहायक भारत ही हो सकता है। यह सहयोग सरकारी और निजी स्तर पर होना चाहिए। तटस्थ पर्यवेक्षक मानते हैं कि नेपाल से संबंध सुधारने में भारत ने कम असावधानी, लापरवाही, शिथिलता और अदूरदर्शिता का परिचय नहीं दिया है।

प्रधानमंत्री बाबूराम भट्टराई को विश्वास है कि वे शांति प्रक्रिया और संविधान का काम तय समय में पूरा करा लेंगे। शांति प्रक्रिया का मतलब है माओवादियों की पीएलए का सेना में समायोजन। माओवादियों ने अपने 'जनयुद्ध' के लिए पीपुल्स लिबरेशन आर्मि (पीएलए) बनाई थी। एक देश में दो सेना नहीं रह सकती इसलिए पीएलए का नेपाल की सेना में समायोजन का निर्णय हुआ। इसके लिए संयुक्त राष्ट्र के एक मिशन ने काम किया और पीएलए के 19 हजार सैनिकों की पुष्टि की। अब प्रधानमंत्री के अध्यक्षता में बनी स्पेशल कमेटी को यह काम पूरा करना है। पिछले दिनों इसमें ठोस प्रगति हुई है। नेपाल की सेना ने माओवादियों की छावनियों को अपने नियंत्रण में ले लिया है। हथियारों के मालखाने की चाबी भी पीएलए ने सौंप दी है। इस तरह उम्मीद हो गई है कि शांति प्रक्रिया पूरी हो सकती है।

संविधान निर्माण का काम जटिल है। नये संविधान को ऐसी राजनीतिक प्रणाली देनी है जो दशकों की शिकायतों का समाधान कर सके। अगर ऐसा हो सका तो ठीक शुरुआत हो जाएगी नहीं तो देश को अराजकता में पहुँचने से कोई रोक नहीं सकता। संविधान बनने मात्र से हर समस्या का समाधान संभव नहीं है। संविधान चाहे जितना भी सुरुचिपूर्ण ढंग से लिपिबद्ध किया गया हो, लोकतंत्र और उसकी संस्थाएँ उसी से निकलती हैं। लेकिन संविधान बन जाने से ही लोकतंत्र की संस्थाएँ अपने

आप कायम नहीं हो जाती। उसे समाज के नैतिक पुरुष ही बल प्रदान करते हैं। भारत का उदाहरण इसे भलीभाँति समझाता है। उदाहरण के लिए गांधी, विनोबा, जे.पी और अब अन्ना हजारे का नाम इसी श्रेणी में है। भारत की परंपरा में संत समाज की एक अविरल धारा है। सनातन संस्कृति की परंपरा को आदि शंकराचार्य ने फिर प्रवाहित किया।

वही सांस्कृतिक धारा नेपाल में भी रही है। आज उसपर संकट है। नेपाल में इस तरह की संस्थाओं का पुर्नजीवन जरूरी है। नेपाल से हमारा संबंध समान सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का है। उसे परस्परता के आधार पर बनाने और बढ़ाने की जरूरत है। यह कार्य सामाजिक और सांस्कृतिक धरातल पर होना चाहिए। इसमें सरकार की भूमिका अनुकूल वातावरण बनाने के लिए सहायक की होनी चाहिए।

यह तभी संभव है जब वास्तविक नेपाल को हम समझें। 'एक नेपाल है हमारे मानचित्र पर। भारत से सटा, चीन से लगा। नक्शे की लकीर व्यवहार में चाहे दो ईंट की कच्ची भीत भी न हो, लेकिन अंतरराष्ट्रीय सीमा तो है ना। चाहे आने-जाने में वीजा की बंदिश न हो, लेकिन झंडा और संविधान तो अलग हैं न। मानचित्र का यह नेपाल हमारा पड़ोसी देश कहलाएगा। एक नेपाल है हमारे मानसपटल पर। यह नेपाल न तो 'हमारा' है, न ही 'पड़ोसी'। अगर अखबारी पन्नों को मानसपटल का एक दर्पण मानें, तो यह नेपाल किसी सुदूर महाद्वीप में स्थित है। इस मानसपटल पर हम अमेरिका के पड़ोसी हैं। अमेरिकी चुनाव अभी सात महीने दूर हैं, पर वहां गिरने वाले हर पत्ते की गूंज हम सुन सकते हैं। लेकिन नेपाल में जो इतिहास रचा जा रहा है उससे हम प्रायः बेखबर हैं।'।

नेपाल हमसे हमेशा इतनी दूर न था। एक पीढ़ी पहले तक नेपाल की हर उथल-पुथल हमारे मानसपटल पर दर्ज होती थी। तब पूरी दुनिया अभी एक गाँव नहीं बनी थी, लेकिन नेपाल, बर्मा (म्यांमार) और बांग्लादेश हमारे अपने ही गाँव में माने जाते थे। इस आत्मीयता में कहीं कुछ बड़प्पन का अहसास होता होगा, लेकिन यह रिश्ता दादागीरी या धौंसपट्टी से परे था।

एक नेपाल है हमारे देश में, हमारे मन में। अलग-अलग रूप धारण करता है हमारे भीतर का यह नेपाल। उत्तर बंगाल में दार्जिलिंग की पहाड़ियों और सिक्किम में बहुसंख्यक नेपाली भाषा-भाषी समुदाय बार-बार हमें अपने भीतर के नेपाल की याद दिलाते हैं। कभी गोरखालैंड आंदोलन के बहाने, तो कभी इंडियन आइडल प्रशांत तमांग के बहाने। हमारे भीतर के नेपाल का एक दूसरा चेहरा इन लाखों नेपाली मजदूरों का है, जो देश के कोने-कोने में आजीविका कमाने आते हैं। काम तरह-तरह के करते हैं, लेकिन छवि बनती है 'कांचा' की। गोरखा रेजीमेंट के 'बहादुर' का मतलब बन जाता है चौकीदार। जाहिर है अपनी पहचान के बारे में सजग नई पीढ़ी को यह छवि नागवार गुजरती है। दिल्ली के एफएम रेडियो की एक टिप्पणी से हमारे भीतर

के नेपाल में आंदोलन हो उठता है। ऋतिक रोशन की एक बात से काठमांडू में दंगे की नौबत आ जाती है। हमारे भीतर का नेपाल जाग रहा है, लेकिन हम खुद अपने इस अंश से बेखबर हैं।

नेपाल के लिए अपने भीतर के भारत को नजरअंदाज करना इतना आसान नहीं है। भारतीय मीडिया की छवियां नेपाल के हर गली-मुहल्ले पर छाई हैं। भारतीय व्यापारी या 'मारवाड़ी' छोटे-बड़े हर धंधे में मौजूद हैं। भारत के पूर्वोत्तर की तरह यहाँ भी स्थानीय निवासियों में इन व्यापारियों के प्रति ईर्ष्या है, शिकायत है, गुस्सा भी है। इन सबके चलते 'भारतीय साम्राज्यवाद' की छवि बनती है और नेपाली राजनीति में खूब चलती है।

इस छवि को संतुलित करता है नेपाल के भीतर भारत का एक दूसरा चेहरा। यह चेहरा है नेपाल के 'मधेसी' का। उत्तरप्रदेश और बिहार से सटे नेपाल के तराई इलाके, पहाड़ और मैदान के बीच के मध्यदेश में आज नेपाल की आधी आबादी निवास करती है। इस इलाके की अधिकांश आबादी उन्हीं जाति समुदायों से है, जो सीमा के उस पार भारत में निवास करते हैं। नागरिकता है नेपाली। भाषा मैथिली, भोजपुरी, अवधी या आपसी बातचीत के लिए हिंदी। रिश्तेदारी जितनी नेपाल में उतनी ही भारत में। मधेसी खुद को दूसरे दर्जे का नागरिक महसूस करता है।

इससे जुड़ा एक और नेपाल है, जो हमारे देश और मन दोनों से बाहर है। यह नेपाल सिर्फ और कोरा 'विदेश' है, विदेश मंत्रालय की बिसात का एक मोहरा है। इस नेपाल में हत दूतावास बनाते हैं जहाँ जाकर हमारे अफसर धौंस जमाते हैं। कुछ वैसे ही जैसे अमेरिकी दूतावास भारत में धौंस जमाता है। नेपाल के शासक और अफसर भी भारत सरकार से लुका-छिपी का खेल खेलते हैं, बीच-बीच में चीन से आँख लड़ाते हैं। यही वह नेपाल है जिसे औकात बताने के लिए राजीव गांधी सरकार ने कुछ दिन के लिए अंतर्राष्ट्रीय सीमा बंदकर उसका दम घोंट दिया था। राजशाही के खिलाफ नेपाल का जनांदोलन जब निर्णायक दौर में पहुँचा, तब 'महाराजा' कर्ण सिंह को दूत के रूप में भेजकर भारत सरकार ने जो फजीहत कराई, वह इसी नेपाल तक सीमित रहने का नतीजा था। धीरे-धीरे हमारे भीतर का नेपाल ओझल होता जा रहा है, पर राष्ट्र संबंध का गणित हावी होने लगा है।

एक दूसरे में गुंथे, एक साथ ही अंदर और बाहर के इस रिश्ते का उलझाव इस वैश्वीकृत दुनिया को मंजूर नहीं है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य को चाहिए एक सीधी-साफ सरहद चाहे उसकी जो भी कीमत हो। उसे चाहिए पासपोर्ट से बंधी निष्ठा, जो स्मृति और भावनाओं में इधर-उधर न भटके। आधुनिक दुनिया के नए निजाम के खिलाफ खड़ा भीतर का नेपाल हमारे मानसपटल पर दस्तक दे रहा है, दुनिया के हर देश की स्मृति में अटक किसी नेपाल की याद दिलाता है और पूछता है कि क्या ऐसी दुनिया संभव है जिसमें हम सबको अपने मन से अपने-अपने नेपाल को खदेड़ना न पड़े?

साफ है कि नेपाल की आंतरिक परिस्थितियाँ अत्यंत नाजुक हैं। राजनीतिक नेतृत्व के दोहरेपन से संविधान बनने की राह में हर कदम पर रुकावट आ रही है। खतरा इस बात का है कि कहीं लोकतंत्र का टिमटिमाता दीप हवा के हलके झोंके से बुझ न जाए। इसलिए यह जरूरी हो गया है कि नेपाल में लोकतंत्र को मजबूत बनाने में भरपूर सहयोग दिया जाय, क्योंकि माओवादी अगर सत्ता में आते हैं तो वे तानाशाही लायेंगे। उनका प्रयास है कि वे ऐसा संविधान बनवा लें जो उन्हें सत्ता में पहुँचाने का रास्ता खोल दे। राजा ज्ञानेंद्र के नेतृत्व में अगर राजशाही आती है तो वह बरबादी का कारण बनेगी। राजनीतिक दलों की विफलता ने राजा ज्ञानेंद्र को सक्रिय बना दिया है। उनकी सक्रियता जनजाति मुक्ति पार्टी के माध्यम से देखी जा रही है। उन्होंने खुद कोई बयान नहीं दिया है। लेकिन उनके इशारे पर सुदूर पश्चिम के इलाके में जनजाति मुक्ति पार्टी ने आंदोलन चला रखा है जिसकी प्रमुख माँग जातीय संरचना के आधार पर अगल राज्य बनाने की है। इस आंदोलन के प्रभाव में नेपाल के पंद्रह-सोलह जिले हैं। आज स्थिति यह है कि चीन का हस्तक्षेप बढ़ा है। उसकी विभिन्न योजनाएं चल रही हैं। ईसाईकरण को गति देने के लिए मूल नेपाली की महिला को मदर टेरेसा का उत्तराधिकारी बनाया गया है। नेपाल में गोरखाली चर्च खड़े हो रहे हैं। लोकतांत्रिक ताकतों में विखराव है। इनकी कोई धुरी नहीं है। ऐसी स्थिति में लोकतांत्रिक समूहों को एकजुट करना और ताकत देना भारत के हित में भी होगा।

परिवर्तन के प्रजातंत्र का सच

जगमोहन सिंह राजपूत*

लगभग 55 वर्ष पहले बी.आर. चोपड़ा ने एक फिल्म बनाई थी : नया दौर। इसमें एक बस्ती में आरा मशीन लगाए जाने पर लकड़ी का काम करने वाले लोगों का बेकार हो जाना तथा गाँव में बस के आ जाने के कारण ताँगा चलाने वाले वर्ग का भुखमरी के कगार पर पहुँचना नए दौर के परिवर्तन के रूप में दिखाए गए थे। उस समय भी अनपढ़ बस्ती वालों ने बार-बार दोहराया था कि वे मशीनों के खिलाफ नहीं हैं, वे केवल यह चाहते हैं कि क्या ऐसा कोई विकल्प नहीं निकाला जा सकता कि मशीनें आएँ परन्तु लोग उनके कारण भुखमरी के कगार पर न पहुँचा दिए जाएँ। मूल तत्त्व यह था कि आधुनिकता कुछ लोगों की जेब भरे और बाकी की रोजी-रोटी भी छीन ले तो ऐसा विकास प्रगति का द्योतक कैसे हो सकता है? पिछली आधी सदी में जो बदलाव हुआ है उसका प्रभाव भारत के ग्रामीण क्षेत्रों की दर्द भरी दास्तान से ओतप्रोत है। यह अलग तथ्य है कि मीडिया इस स्थिति का वर्णन करने में कंजूसी करता है क्योंकि उसे चमक-दमक वाली दुनिया में अपनी पहुँच बनाए रखने की विवशता सदा घेरे रहती है। एक अरब इक्कीस करोड़ की आबादी में 83.3 करोड़ लोग गाँवों में रहते हैं। वैसे 2001 से लेकर 2011 तक ग्रामीण क्षेत्रों में आबादी का प्रतिशत घटा है और 72.19 से घटकर 68.84 रह गया है। सभी जानते हैं कि ग्रामीण युवाओं की रुचि शहरों की चमक-दमक की ओर बढ़ रही है। यह अलग तथ्य है कि शहरों में पहुँचने पर जो दुनिया उन्हें मिलती है वह उनके सपने पूरे करने में कोई रुचि नहीं लेती है। इधर कुछ महीनों से विभिन्न राज्यों में भूमि-अधिग्रहण को लेकर एक जबरदस्त असंतोष देश के विभिन्न भागों में फैला हुआ है। सारे देश ने जाना कि नंदीग्राम और सिंगुर में क्या हुआ तथा ग्रेटर नोएडा में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के बाद कैसी भगदड़ मची है। एक अनुमान के अनुसार आर्थिक रूप से सबसे पिछड़े 10 प्रतिशत लोगों के मासिक खर्च में पाँच सालों में केवल 200 रुपये की वृद्धि हुई है। इस स्तर

*डॉ. जगमोहन सिंह राजपूत, पूर्व निदेशक, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद्, दिल्ली

पर जीवन यापन कितना भयावह है इसका अनुमान वे 10 प्रतिशत तो कतई नहीं लगा सकते जो मॉल एवं मल्टीप्लेक्स की संस्कृति से अभिभूत हैं और जिन्हें खुली आर्थिक नीतियों से सबसे अधिक फायदा हुआ है। राजे महाराजे चले गए परन्तु उनका स्थान जनता के चुने गए प्रतिनिधियों, कॉरपोरेट संस्थानों तथा बिल्डरों ने तेजी से हथिया लिया है। 'नया दौर' के बाद आज इस देश में अति प्रसन्न और अति पीड़ित के बीच में कोई सम्बन्ध नहीं है। मध्यम वर्ग हर प्रकार से प्रयत्नशील है कि वह ऊपर की तरफ जाते हुए पायदानों पर अधिक से अधिक चढ़ सके। इसमें जो कुचल गए हैं उनकी ओर उसकी निगाह भी नहीं जाती है।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ तब लगता था सारे वातावरण में अन्तिम व्यक्ति की सुधि लेने के लिए सम्पन्न वर्ग, नेता वर्ग और प्रशासन कटिबद्ध था। संविधान सभा में हुई बहसों के अध्ययन से यह देखा जा सकता है कि मानव मूल्यों पर उस समय के नेतृत्व में जबरदस्त आस्था थी। सारी जनता उनका सम्मान करती थी क्योंकि उन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए, लोगों को आत्मसम्मान का जीवन देने के लिए, अभूतपूर्व बलिदान किए थे और अनेक प्रकार के कष्ट सहें थे। तब यह किसी को अपेक्षा नहीं थी कि आगे आने वाले वर्षों में उन्हीं के चयनित प्रतिनिधि सभी मानवीय संवेदनाओं और नैतिक मूल्यों को तिलांजलि देकर हर प्रकार के शोषण, संग्रह और भ्रष्ट आचरण को ही सर्वोच्च प्राथमिकता देंगे। आज भी भारत के किसान यह नहीं समझ पा रहे हैं कि सरकारों में क्यों उद्योगपतियों को यह छूट दी गई कि वे नदियों को हर प्रकार से प्रदूषित करें, कृषि योग्य भूमि को बेकार बना दें और जहाँ चाहें सरकार से कृषि योग्य भूमि को किसानों से मिट्टी के मोल अधिग्रहीत कराकर स्वयं ले लें और उसको जब चाहे तब सोने के भाव बेच दें। इस प्रकार के सौदे कुछ लोगों को इतने आकर्षक लगे कि उन्होंने सत्ता में आकर धन कुबेरों के लिए आधिकारिक तौर पर बिचौलियों का काम अपना लिया। सरकार जमीन किसानों से लेती है और बिल्डरों को बेच देती है, मध्यम वर्ग के लोग वहाँ अपने लिए रिहाइश ढूँढ़ते हैं। कुल मिलाकर उस किसान के पास कुछ नहीं बचता है जो सदियों से ईमानदारी के साथ अपनी जमीन को माँ समझ कर संजोए हुए था। उच्च न्यायालय के फैसले भ्रष्टाचार के इस सर्वत्र फैले हुए जंगल में थोड़ी-सी राहत भले ही दे दें, वे अनेक दशकों से होते आ रहे अन्याय को रोक पाएँगे, ऐसी कोई सम्भावना नजर नहीं आती है। भ्रष्टाचार पर एकाधिकर अब किसी एक दल या सरकार का नहीं रह गया है।

पिछले कुछ महीनों में दो अनशन या कर्हें सत्याग्रह लोगों का भ्रष्टाचार की ओर ध्यान आकर्षित करने में सफल रहे हैं। वे अपना लक्ष्य अभी तक तो प्राप्त नहीं कर सके हैं और न लगता है कि आगे कर पाएँगे। कारण स्पष्ट है सरकारी तन्त्र भ्रष्टाचार में स्वयं भागीदार है। अतः वह उन्हीं में कमियाँ और खामियाँ ढूँढ़ रहा है जिन्होंने सारे देश की आवाज को कम से कम एक साथ वाणी प्रदान की। उनसे सहमत और

असहमत होना अलग तथ्य है। परन्तु सर्वमान्य स्थिति यह है कि सारा देश किसी न किसी प्रकार भ्रष्टाचार से पीड़ित है और विशेष रूप से अपने चयनित प्रतिनिधियों के आचरण से अत्यन्त दुखी तथा शर्मिन्दा है। इन चुने हुए जन नेताओं ने इधर एक नई बहस छेड़ी है कि वे ही जनता के प्रतिनिधि हैं और कोई अन्य उनका स्थान नहीं ले सकता है। वे सिविल सोसाइटी जैसी संकल्पना को अपने अधिकारों पर अतिक्रमण मानते हैं और बाबा रामदेव को सलाह देते हैं कि वे योग तक सीमित रहें अन्य किसी क्षेत्र में या राष्ट्र की किसी अन्य समस्या पर ना कुछ बोलें ना औरों को बोलने को कहें। इसका अधिकार तो केवल उन लोगों को है जिनमें से कुछ केवल डाले गए वोटों का केवल 15-20 प्रतिशत पाकर चुनाव जीते थे। इस समय केन्द्र सरकार में सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस के पक्ष में इस देश के केवल 10 करोड़ लोगों ने वोट डाले थे। ऐसी स्थिति में यह कहना कि कोई अन्य-वर्ग या समूह जनता की आवाज उठाने का अधिकार नहीं रख सकता है नितान्त ही हास्यासपद लगता है। एक अन्य तथ्य भी चुनाव जीते हुए लोग भूल जाते हैं। 1952 और 1957 के चुनावों तक यही जनता चुने गए लोगों का कितना सम्मान करती थी और आज वे लगभग हँसी के पात्र क्यों बन गए हैं? बड़े-बड़े घोटालों में शामिल लोग एकाएक गठबंधन सरकारों में मनचाहा पद ग्रहण कर लेते हैं, चाहे वे भ्रष्टाचार में पहले लिप्त रहे हों कोई फर्क नहीं पड़ता और उनके खिलाफ कार्यवाही ठंडे बस्ते में डाल दी जाती है। किस प्रकार अपराधी तत्त्व चुनाव जीतते हैं और जनप्रतिनिधि बनते हैं यह सभी जानते हैं, देख रहे हैं परन्तु उसे रोकने के लिए सार्थक कदम उठाने का साहस कोई भी नहीं कर रहा है। हम कितना भी दोहराएँ कि भारत में प्रजातन्त्र की जड़ें गहराई तक जा चुकी हैं फिर भी हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि व्यवस्था तन्त्र ने देश के एक बड़े वर्ग को नीचे ढकेला है। आश्चर्य इस बात पर होता है कि हर नेता और राजनीतिक दल इन्हीं के भले के लिए और इन्हें आगे लाने के लिए अपना जीवन समर्पित करने की घोषणाएँ लगतार करता रहता है। इसमें कितनों की मिली-भगत है और कितनी सार्थकता है यह 2-जी घोटाले और कामनवेल्थ खेलों के कुछ प्रकरण खुलने के बाद सामने आया है। वर्षों और महीनों लोग अपने पदों का दुरूपयोग करते हुए भ्रष्टाचार करते रहे मगर उनके वरिष्ठों ने उन्हें रोक पाने के लिए कोई कदम नहीं उठाए। यह कहा जा सकता है कि वह उनकी मजबूरी थी क्योंकि गठबंधन सरकारों का पहला उद्देश्य होता है कि जैसे-तैसे सत्ता में बना रहा जाय भले ही इसके लिए नीतियों और सिद्धान्तों को कितना ही तोड़ना मरोड़ना पड़े, या जनता का पैसा कितना ही लुटता रहे।

सामान्य व्यक्ति इस समय 'गरीबी हटाओ', 'इण्डिया साइनिंग' या 'सुपरपावर इण्डिया' जैसे नारों से बहुत दूर चला गया है। वह जानता है कि शासन और प्रशासन की सारी व्यवस्था आज सामान्य व्यक्ति की आवश्यकताओं को पीछे ढकेल कर, नेताओं, कॉर्पोरेट जगत तथा उद्योगपतियों के हाथों का खिलौना बन गई है। इन्होंने

मीडिया के बड़े भाग को खरीद लिया है और अब देश की बढ़ती समस्याओं और मूल्य-हास की स्थितियों में पेड न्यूज जैसे शब्द भी प्रभावशाली ढंग से अपना स्थान बना चुके हैं। विश्व में बड़े बड़े परिवर्तन बुद्धिजीवियों के चिन्तन और विचारों की शक्ति के आधार पर होते रहे हैं। भारतवर्ष में यह स्थान ज्यादातर वामपंथी बुद्धिजीवियों ने अपने कब्जे में कर रखा है। चूँकि वे एक विचारधारा से बँधे हुए हैं अतः उनकी आलोचनाएँ और विश्लेषण अक्सर वस्तुनिष्ठता से दूर ही रहते हैं। इनमें अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाए रखने पर ही अधिक जोर होता है। सिंगूर और नंदीग्राम में जब शासन हर प्रकार का अत्याचार कर रहा था या पिछले कुछ वर्षों से किसानों को बेदखल कर हजारों एकड़ जमीन सरकार ने लेकर और बीच में कुछ लाभ कमाकर बिल्डरों और उद्योगपतियों को दे दी तब उससे भारत का प्रबुद्ध समाज किसी भी प्रकार से विचलित नहीं हुआ और उसने इस सबके विरोध में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठाया। यह वर्ग माओवाद और नक्सलवाद के सम्बन्ध में भी अधिकतर मौन ही रहता है या खुलेआम उनके समर्थन में खड़ा हो जाता है। देश की बड़ी-बड़ी शिक्षा संस्थानों पर इनका लगभग एकाधिकार है और उसका उपयोग विचार धारा को बढ़ाने के लिए ही अधिक होता है। सामान्य जन की समस्याओं पर चिन्तन करने, उन पर मुखर होने या कोई वातावरण बनाने का उनका प्रयास नहीं होता।

यह भी सही है कि देश को असमंजस, दिशाहीनता और हर तरफ छापे भ्रष्टाचार से मुक्त होना ही पड़ेगा। इसके लिए एकमात्र रास्ता सामान्य व्यक्ति को अपने अधिकारों के प्रति जागृत करना तथा सत्ता और साधन सम्पन्न लोगों को उनके कर्तव्य याद दिलाना ही हो सकता है। राष्ट्रीय स्तर पर यह लक्ष्य केवल शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी शिक्षा जो भारत की पहचान से जुड़ी हो जो अक्षर ज्ञान और गणित ज्ञान के साथ मानवीय व्यवहार, मूल्यों तथा सामाजिक कर्तव्यों की ओर बच्चों को प्रारम्भ से ही प्रेरित करती हो। प्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ. दौलत सिंह कोठारी ने 1966 में शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन 'राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा' जमा करने के लगभग 25 वर्ष बाद कहा था कि यदि उन्हें दुबारा से अवसर मिले तो वह जो नया प्रतिवेदन बनाएँगे उसका शीर्षक होगा 'चरित्र निर्माण के लिए शिक्षा'! अपने मंतव्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि यदि पहले ही हमने युवा के चरित्र निर्माण पर ध्यान दिया होता तो भारत भ्रष्टाचार के दलदल में इस सीमा तक नहीं फँसा होता (यह उन्होंने लगभग 20 वर्ष पहले कहा था) : भले ही बड़े-बड़े कारखाने या बाँध पाँच दस साल बाद बनते, हमने जो नई पीढ़ी तैयार की होती वह उन मूल्यों को महत्त्व देती जो स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय देश में उभरे थे। आज देश कर्मठ और सेवा भाव से प्रेरित ईमानदार लोगों के हाथ में होता तथा अन्तिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति आज सम्मान का जीवन जी रहा होता।" रास्ता तो यही है, यह अलग तथ्य है कि देश कब इसे अपनाता है।

जनतन्त्र के पुनर्परीक्षण का क्षण

कैलाशचन्द्र पन्त*

पिछले कुछ वर्षों से भारत में संसदीय प्रजातन्त्र को लेकर कुछ प्रश्न खड़े हो रहे हैं। कई बार यह बात सांविधानिक व्यवस्थाओं को लेकर या उच्च पदस्थ लोगों के भ्रष्टाचार के उजागर होने पर प्रतिक्रिया स्वरूप व्यक्त की जाती है। पूरी प्रणाली की गहरी छानबीन के बाद गम्भीर चर्चा अभी भी शुरू नहीं हो सकी। ऐसा होता तो शायद अगले चरण के रूप में वैकल्पिक राज्य-पद्धति पर विचार प्रारम्भ हो जाता। किसी भी प्रणाली को अपदस्थ करने के पूर्व उसका स्थान लेनेवाली प्रणाली पर विचार कर लेना जरूरी होता है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो अराजकता उत्पन्न हो जाएगी। ऐसी भूलें मनुष्य समाज बहुत पहले से करता चला आ रहा है। एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है। पृथ्वी का राज्य करते हुए वेन नामक राजा निरंकुश और अत्याचारी बन गया। आम प्रजा के साथ ही वह ऋषियों और विद्वानों को भी सताता था। जब ऋषियों ने देखा कि राजा वेन के दुष्कर्म सारी मर्यादाओं का उल्लंघन कर चुके तो उन्होंने श्राप देकर उसे मार डाला। कुछ समय तक तो जनता ने राहत की साँस ली। लेकिन जल्दी ही चोर-डाकुओं के उपद्रव शुरू हो गए। मारकाट मचने लगी। तब ऋषियों ने बैठकर विचार किया कि आखिर भूल कहाँ हो गई? वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समाज का संचालन करने के लिए राजा जरूरी है। वही व्यवस्था को वापस ला सकता है। ऋषियों के सामने प्रश्न खड़ा हुआ कि राजा को वे समाप्त कर चुके हैं। उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं जिसे सिंहासन पर बैठाया जाए। सभी ऋषिगण मार्गदर्शन के लिए ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। ब्रह्मा जी ने सुझाया कि मृत राजा के शरीर का घर्षण करो। उसी में से व्यक्ति प्रकट होगा। जो योग्य नजर आए उसको राजगद्दी पर बैठा देना। लौटकर ऋषियों ने वेन के मृत शरीर के अंगों का मन्थन शुरू किया। प्रत्येक अंग से विभिन्न रूपाकार प्रकट हुए। वे तो राजा वेन से भी ज्यादा भयंकर आए। अंत में पृथु

*कैलाशचन्द्र पन्त, मन्त्री-संचालक, मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा परिषद् समिति एवं प्रधान सम्पादक, अक्षरा; पता : 9/35, सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म.प्र. 462003)

उत्पन्न हुए। उन्हें सर्वथा योग्य पाकर ऋषियों ने उनका राज्याभिषेक किया और पृथु राजा ने पृथ्वी का सुविचारित ढंग से पालन-पोषण किया।

यह एक पौराणिक कथा है। हमारे देश में जो बुद्धिजीवी होने का दावा करते हैं, वे इसे मिथक कहेंगे और कपोल कल्पना बताएँगे। उन्हें शायद ही समझ आएगा कि इससे गहरा राजनीतिक चिन्तन दुनिया में कहीं नहीं हुआ। इसके द्वारा हम समझ सकते हैं कि अन्यायी होने के तर्क से पूरी व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर देने से अराजकता पैदा होगी। यानी व्यवस्था तो समाज के संरक्षण के लिए सदैव अनिवार्य होगी उसका स्वरूप कुछ भी हो सकता है। इसीलिए इस चिन्तन में रेखांकित किया जाने योग्य महत्वपूर्ण तत्त्व उपलब्ध है देह का घर्षण या विचारों का मन्थन! इसी मन्थन से विकल्प सूझेगा और इस विकल्प का चयन करते समय विवेक रूपी ब्रह्मा को जाग्रत रखना होगा। विचारों के बीच ही नया विचार उपजता है।

जहाँ तक गणतन्त्र (Republic) शब्द का सवाल है, हम यूनानी दार्शनिक प्लेटो (अफलातून), की याद करते हैं। यह सच है कि एक दर्शन के रूप में उसने “रिपब्लिक” की विस्तृत विवेचना की है। परन्तु भारत में तो गुप्त काल और मौर्यकाल में गणतन्त्र व्यावहारिक रूप से कार्यरत थे। लेकिन प्लेटो ने जिस “रिपब्लिक” की बात कही थी उसे अरस्तु ने प्रजातन्त्र की संज्ञा दी थी। अरस्तु ने प्रजातन्त्र (Democracy) की विकृतियों की ओर संकेत करते हुए प्रजातन्त्र के भीड़तन्त्र में (Mobocracy) में बदल जाने की बात भी कही थी। यूनानी दार्शनिकों के विश्लेषण के बावजूद यूरोप में रूसो के सामाजिक अनुबन्ध (Social Contract Theory) के व्यावहारिक रूप लेने तक अनेक शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। अब दुनिया के अधिकांश देश स्वीकार करने लगे हैं कि जनतन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ राज्य पद्धति है। फिर भी वहाँ डॉ. ब्रायस जैसे विद्वानों ने उन खतरों से सावधान किया जरूर था जिनका सामना अधिकांश प्रजातान्त्रिक देश कर रहे हैं। भारत भी अपवाद नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जनतन्त्र के रूप में मानव सभ्यता द्वारा सर्वश्रेष्ठ राज्य-पद्धति प्राप्त कर लेने की बात कहना उचित नहीं होगा। इसे सभ्यता के विकास का महत्वपूर्ण पड़ाव जरूर माना जा सकता है। क्योंकि इसमें व्यक्ति के “स्व” की प्रतिष्ठा सम्भव हुई, उसे कुछ नैसर्गिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त हुई हैं। इन स्वतन्त्रताओं के माध्यम से वह अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। भले ही वह बाह्य या भौतिक विकास हो!

भारतीय चिन्तनधारा में तो भौतिक नहीं, आध्यात्मिक; बाह्य नहीं, आन्तरिक विकास की महत्ता प्रतिष्ठापित की गई है। इसी प्रक्रिया से चेतना की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। बाहरी दृष्टि से देखने पर भारत के सामाजिक जीवन में इसका फलितार्थ दिखाई नहीं देगा। परन्तु सूक्ष्मता से विचार करें तो हिन्दू जीवनपद्धति का यह व्यावहारिक और अभिन्न अंग बन चुका है। भारत में बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है जो आचरण की पवित्रता को श्रद्धा से देखता है, विचारों की भिन्नता को स्वीकार करता

है, हिंसा से घृणा करता है, पूजा पद्धतियों, रीति-रिवाजों के अन्तर को महत्त्व नहीं देता। कुल मिलाकर उसमें सहिष्णुता है। वह इस अर्थ में स्वतन्त्र है कि लीक से हटकर नये मतवाद का प्रचार करे या उसका अनुकरण करे, उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है अर्थात्, वह अपनी चेतना में स्वतन्त्र है। यह आभ्यान्तरिक विकास का मार्ग है जो अन्ततोगत्वा इस सत्य तक पहुँचता है कि सारी सृष्टि का मूल तत्त्व एक ही है। इसीलिए एकात्मकता पा लेना उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। इस जीवन-साधना को साधने के लिए अधोभाग को नियन्त्रित करने के उपाय भी निर्धारित कर दिए गए हैं। यानी शरीर पर नियन्त्रण और चेतना (शीर्ष) बन्धन-मुक्त। यह प्रक्रिया मनुष्य का विकास ही नहीं करती उसे “जन” बन जाने के लिए तैयार भी करती है। व्यक्ति होने और जन होने में थोड़ा किन्तु महत्त्वपूर्ण अन्तर है। व्यक्ति नितान्त एकाकी होकर अपनी निजता में जी सकता है, लेकिन “जन” बन जाने का अर्थ सृष्टि से एकात्मकता प्राप्त कर लेना है। तन्त्र को संचालित करने की आधारभूत तैयारी “जन” बनाने पर निर्भर है। बिना जन को तैयार किए तन्त्र उसके हाथ सौंप देने में खतरे होते ही हैं, उनका होना अनिवार्य है। इसलिए भारतीय चिन्तन के इस आन्तरिक विवेचन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। विशेषकर ऐसे समय में जब जनतन्त्र की सफलता और असफलता पर प्रश्नचिह्न लगाए जा रहे हों। जब भी जनतन्त्र की वर्तमान पद्धति की बात की जाएगी तब इस दृष्टि से विचार किया जाना जरूरी होगा। जनतन्त्र को ऐसी सरकार माना जाता है जो जनता की, जनता के लिए, जनता द्वारा संचालित होती है। इस परिभाषा में जन नहीं जनता है, प्रजा नहीं भीड़ है। यदि एक पक्ष का समर्थन कर रहा समूह जनता है, तो विरोध करने वाला समूह भी तो जनता है। वर्तमान दृष्टि उसे बहुमत और अल्पमत में विभाजित करती है। लेकिन एकात्म तत्त्व को प्राप्त कर लेने वाला जन किसी भी भेद-दृष्टि का शिकार नहीं होगा। इसलिए भी सोचना होगा कि तन्त्र के संचालन के लिए उपयुक्त पात्र कौन हो? यह पात्रता पाना चाहे जितना जटिल हो, सर्वश्रेष्ठ को प्राप्त करने के लिए उसे प्राप्त करना ही होगा। यदि विकल्प पर विचार करने की स्थिति बने तो पात्रता पाने के कुछ ज्यादा सरल तरीके खोजने होंगे।

अधिकार-लिप्सा और मदान्धता जुड़ी हुई बातें हैं। तभी तो मौजूदा जनतान्त्रिक पद्धति में परस्पर सन्तुलन बनाने के लिए अधिकारों के पृथक्करण का सिद्धान्त अपनाया गया। यह अपरोक्ष स्वीकृति है कि मनुष्य में कुछ प्राकृत बुराइयाँ हैं और उनका शिकार कोई भी व्यक्ति किसी भी क्षण हो सकता है। भारतीय मनीषा में जिन षड्रिपुओं की बात कही गई है, उससे बाहर दुनिया के किस मनोविज्ञान ने प्राकृत दोषों का विवेचन किया है? अध्यात्मवादी कहेगा कि नर से नारायण बनने के लिए सबसे पहले षड्रिपुओं पर विजय प्राप्त करो। भौतिकवादी कहेगा कि पेट भर खाना दो या शारीरिक भूख पूरी कर दो। लेकिन क्या जिनके पास खाने, रहने और पहिने की पर्याप्त व्यवस्था होती है वे पूर्ण सन्तुष्ट होते हैं? उद्योगपतियों को नींद की गोली

खाने के बाद मखमली बिछौनों पर भी नींद नहीं आती। इसके विपरीत गरीब मजदूर खुली जमीन पर भी बेपरवाह गहरी नींद सोता है। जिन लोगों को गुजर-बसर करने योग्य साधन प्राप्त होते हैं क्या वे उससे कुछ ज्यादा पा लेने की लालसा नहीं रखते? क्रोध में विवेकहीन होकर मनुष्य क्या-क्या नहीं कर डालता? द्वेष-जनित कृत्यों से ही तो सामाजिक विद्रूपताएँ देखने को मिलती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कानून और नियमों से मनुष्य की प्रवृत्तियों का दमन किया जा सकता है। लेकिन समय पाकर उनके उन्मत्त ढंग से उभरने की सम्भावना बनी रहेगी। फिर क्या जरूरी है कि नियमों का पालन कराने वाला उन आदिम प्रवृत्तियों का शिकार नहीं होगा? इसलिए दमन नहीं, शमन का रास्ता ज्यादा सुकर होता है। सत्ता में जब भी असन्तुलन होता है उसके पीछे कोई प्रकृत प्रवृत्ति काम करती है।

सन्तुलन की बात ही जनतन्त्र के लिए सबसे ज्यादा जरूरी हैसोच में भी और व्यवहार में भी। भारत में पिछले वर्षों में राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के अधिकारों को लेकर, संसद और सर्वोच्च न्यायालय के अधिकारों को लेकर, मुख्य सूचना आयुक्त और न्यायाधिपति के अधिकारों को लेकर विवाद खड़े हुए हैं। सभी पक्षों ने अपनी सर्वोच्चता की बात के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए। यह अधिकार-लिप्सा की प्रवृत्ति का ही तो परिचायक है। पिछले वर्ष ही अन्ना हजारे के आन्दोलन के बाद संसद के विशेषाधिकार पुनः सुर्खियों में आए। संसद सदस्य कैसे भूल गए कि सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथों में होती है और आन्दोलन के पक्षधरों को यह नहीं भूलना था कि वर्तमान संविधान के अस्तित्व में रहते हुए कानून बनाना उसके अधिकार क्षेत्र की बात है। उनके मत को प्रभावित करने के लिए जनमत की अभिव्यक्ति के कुछ दूसरे माध्यम अपनाने चाहिए थे। लेकिन भारत में वर्तमान जनतान्त्रिक प्रणाली सवालों के दायरे में घिरी ही इसलिए है कि देश में जनमत अभिव्यक्ति के गैर-राजनीतिक मंचों का लोप हो चुका है। सतत पहरेदारी (Eternal Vigilance) की बात जनतन्त्र के लिए बड़े मर्म की है। दुर्भाग्य से राजनीति ने उन सभी क्षेत्रों पर अतिक्रमण कर दिया जो इस पहरेदारी का दायित्व निभाते। इसके बावजूद स्थिति इतनी बद्तर नहीं होती यदि राजनीतिक दलों में भी स्वतन्त्रतापूर्वक नीतिगत सवालों पर खुली बहस को जिन्दा रहने दिया जाता। पूरी व्यवस्था चरमरा रही है तो उसकी ईंटों को हिलाने का काम उन लोगों ने ज्यादा किया जिन पर इमारत की चौकीदारी का दायित्व था। कार्यों में असन्तुलन तभी आता है जब विचारों में असन्तुलन होता है। इस सन्तुलन को व्यक्ति नहीं, “जन” ही साध सकता है। सोवियत संघ के रूप में मार्क्स के राजनीतिक-आर्थिक दर्शन का प्रयोग शुरू हुआ था। पर वहाँ सत्ताधीश अपना सन्तुलन खो बैठे। परिणाम क्या हुआ? मार्क्सवाद को सबसे ज्यादा हिंसक विचारधारा मान लिया गया। इसकी प्रतिक्रिया में पूँजीवाद ने अपने आर्थिक साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ कर दिया। उसने अपना एकाधिकार स्थापित करने की दिशा में वैश्वीकरण और उदार आर्थिक नीतियों

के दुष्क्रम में अफ्रीका और एशिया के तमाम देशों को अपनी चपेट में ले लिया। “सभ्यताओं के संघर्ष” का सिद्धान्त निरर्थक बौद्धिक विलास नहीं है, एक क्रूर साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति की रणनीति है। अमेरिका और यूरोप के आर्थिक संकट के पीछे अधिकार-लिप्सा की घिनौनी प्रवृत्ति है। पर वे देश शायद ही इससे सबक सीखें। उनका पाखंड इस बात से समझा जा सकता है कि जनतन्त्र की दुहाई देते हुए वे सैनिक तानाशाही की सरपरस्ती करने लगते हैं। उन्हें शेष संसार एक उपभोक्ता दिखाई देता है वह उपभोग करे उनके द्वारा उत्पादित शस्त्रों का, मशीनों का, दवाओं का। व्यक्ति को जन बनाने की अपेक्षा उसे वस्तु में तब्दील किया जा रहा है।

माक्सवादी और पूँजीवादी आर्थिक धाराएँ जब असफल हो चुकी हैं तब उनसे प्रसूत राजनीतिक पद्धतियाँ मानव सभ्यता के लिए कल्याणकारी सिद्ध नहीं हो सकतीं। तब ज्यादा जरूरी होता है कि जनतान्त्रिक पद्धति और उसके मौजूदा स्वरूप संसदीय जनतन्त्र पर गहराई से विमर्श किया जाए। इस प्रणाली से भारत का भी पारम्परिक सम्बन्ध रहा है। सच है कि भारत में राजतन्त्र काफी प्रभावी रहा और हमारी पौराणिक कथाएँ राजाओं के संघर्ष से भरी हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रति आग्रह सर्वथा अनुपस्थित हो। वैशाली जैसे गणतन्त्र की बात छोड़ भी दें तो तुलसीदास राम-राज्य की आदर्श अवधारणा प्रस्तुत करते हुए राजा को जनमत के समक्ष नत होने को विवश करते हैं। त्रेता युग में एक राजा द्वारा जनमत को महत्ता देने का जो आदर्श उपस्थित किया गया, उसे पौराणिक गाथा कहकर या राम के द्वारा सीता के प्रति अन्याय का लांछन लगाकर खारिज नहीं किया जा सकता। ऐसे अनेक उदाहरण पौराणिक कथाओं में मौजूद हैं जिनमें राजतन्त्र में भी जनता को सर्वोपरि मानने का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ है। उल्लेखनीय है कि राजा वेन को श्रापित करने वाले ऋषि उस युग के बुद्धिजीवी थे जिनके निर्देशों का पालन राजसत्ता करती थी। सामान्य जनता का व्यवहार प्रस्तुत करने वाली कथाएँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। राजा पृथु का राज्याभिषेक होते ही चारणों ने उनकी प्रशस्ति और कीर्ति का गान शुरू कर दिया था। तब पृथु को कहना पड़ा कि अभी तो मैं कार्यभार ग्रहण कर रहा हूँ। मेरे द्वारा सत्ता ग्रहण के बाद आप मेरे कार्यों का आकलन करें। यह तय करना पाठकों पर छोड़ता हूँ कि आज के बुद्धिजीवी क्या ऋषि परम्परा वाली परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं या फिर चारण-भाटों की तरह सिर्फ स्तुति-गान में ही लगे हैं? इस स्थिति के बावजूद वे आत्म-मुग्ध हैं, यह दुःखद है।

तुलनात्मक साहित्य : विकासात्मक स्वरूप

पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु'*

तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन का आरंभ साहित्य और भाषा के संदर्भ में ही हुआ था। वहाँ पहले-पहल प्रभाव को बीज-शब्द (Key-Word) के रूप में लिया गया था। उस समय राष्ट्र और प्रजाति की हदों के बीच संस्कृति की तुलना आरंभ हो गई थी और तुलनात्मक अध्ययन में राष्ट्र-विशेष और प्रजाति-विशेष का अपना महत्त्व था। इसे तुलनात्मक साहित्य का संकीर्णतावादी दृष्टिकोण कहा जाएगा। पर जैसे-जैसे तुलनात्मक साहित्य का विकास हुआ, वह संकीर्णता से व्यापकता की ओर अभिमुख हुआ और उसकी सोद्देश्यता में भी अन्तर पड़ा। अब वह सीमित क्षेत्र में केवल साहित्य, भाषा और संस्कृति का तुलनात्मक अध्ययन नहीं रहा, अपितु अपने विकास-क्रम में उसने कला, दर्शन, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि अनेक ज्ञानानुशासनों के साथ अपना संबंध स्थापित किया। अब तो उसने राष्ट्र की हद को तोड़कर अंतर्राष्ट्रीय फलक पर बढ़ने का प्रयास किया है। वह मानवतावादी बना है तथा विश्व मानच-चेतना के निर्माण में अपनी भूमिका सिद्ध करने चला है।

तुलनात्मक साहित्य का अध्ययन प्रभाववादिता के बाद सादृश्य के रूप में किया जाने लगा। पर एक सही तुलनात्मक अध्ययन केवल प्रभाववादिता या सादृश्यपरकता का अध्ययन नहीं होता। वह तद्रूपता (Identity), सादृश्य (Similarity), विसादृश्य (Dissimilarity) और व्यतिरेकता (Contrastivity) का अध्ययन भी होता है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने सबसे पहले संबंधन (Connection) के रूप में अंतर-पाठ की ही बात की थी। निश्चय ही तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन में अंतरपाठीय संबंधों की छानबीन करनी होती है।

इधर 2003 ई. में गायत्री स्पिवाक ने एक पुस्तक लिखी है The Death of a Discipline. इसमें उसके तीन व्याख्यान संकलित हैं। इस पुस्तक के शीर्षक में इस

* प्रो. पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु', प्रतिष्ठित सैद्धांतिक तथा सर्जनात्मक आलोचक एवं भाषाविज्ञानी; 'साईकृपा', 58, लाल एवेन्यू, डाकघर: रेयॉन एंड सिल्क मिल, अमृतसर 143005 (पंजाब)।

ज्ञानानुशासन-विशेष के निधन की बात भी की गई है। निश्चय ही यह ज्ञानानुशासन अब संकीर्णतावादी ज्ञानानुशासन नहीं रह गया है। अब यह हृदयबंदियों में घिरा श्रेष्ठता-बोध को सिद्ध करने वाला ज्ञानानुशासन भी नहीं है। अतः उस पूर्ववर्ती ज्ञानानुशासन का निधन हो चुका है। अब यह नए रूप में हमारे सामने उपस्थित हुआ है। सही अर्थ में निधन नहीं, बल्कि इसका कायाकल्प हो चुका है। गायत्री स्पिवाक ने दो महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। पहली बात यह कि अब तुलनात्मक साहित्य का फलक सीमांतों और भौगोलिक चौहदियों को पार कर गया है, जिसे उसने 'Cross Border' कहा है। दूसरे, उसने क्षेत्रगत अध्ययन (Area Studies) की बात की है। इस क्षेत्रगत अध्ययन के साथ आज भी संस्कृति का अध्ययन जुड़ा है। पर आज हाशियाकृत (Marginalized) हो रही संस्कृतियों के अध्ययन पर अधिक बल दिया जाता है। यहाँ जनजातियों, दलितों और स्त्रियों की निजी संस्कृतियाँ चुनौती बनकर उभरी हैं। यद्यपि यह माना जाता है कि क्षेत्रगत अध्ययन के मूल में अमेरिका जैसे पूँजीवादी देश की अपनी राजनीति काम करती रही है। पर आज तुलनात्मक साहित्य का क्षेत्र अत्यंत व्यापक हो चुका है। पहले जहाँ यह साहित्य के ज्ञानानुशासन का ही भाग था, वहाँ आज यह अपने नए रूप में न केवल भाषा या साहित्य, बल्कि इनके अतिरिक्त कला, दर्शन, धर्म, समाज विज्ञान, मानव विज्ञान, क्षेत्र और संस्कृति तथा प्रौद्योगिकी आदि के साथ जुड़ चुका है। साथ ही अपनी सोद्देश्यता में अधिक मानवीय, सार्वभौमिक और सार्ववैश्विक बन चुका है। यह तुलना में उत्कृष्ट और अपकृष्ट, श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ की धारणागत सोद्देश्यता से अपने को मुक्त कर चुका है।

तुलनात्मक साहित्य के कई निकाय हैं। 1. फ्रांसीसी निकाय, 2. जर्मन निकाय, 3. ब्रितानी निकाय, 4. अमेरिकी निकाय आदि। इसके अध्ययन और निरूपण को पूर्ववर्ती और परवर्ती निकायों के रूप में भी देखा जाता है, पर आज जो तुलनात्मक साहित्य अपने अस्तित्व में है, वह हमारे सामने एक ज्ञानानुशासन के बतौर उपस्थित है, वह इसलिए कि उसने प्रकृति और संस्कृति दोनों को अपना अध्येय विषय बना रखा है। तुलनात्मक साहित्य न केवल स्थलगत है, बल्कि कालगत भी है। जब हम स्थलगत की बात करते हैं, तो क्षेत्रगत तुलना का उपक्रम सामने आता है। पर जब हम कालगत की बात करते हैं, तो मध्यकालीन बोध, आधुनिक बोध, उत्तर-आधुनिक बोध जैसे गवाक्ष खुलने लगते हैं और हम इनकी तुलना में संलग्न हो जाते हैं। तुलनात्मक साहित्य काल के अक्ष पर जहाँ बहुकालक्रमिता का अध्ययन है, वहीं एककालक्रमिता का भी, जिसे अंग्रेजी में क्रमशः डायक्रॉनी (Diachrony) और सिनक्रॉनी (Synchrony) कहा जाता है। तुलनात्मक साहित्य प्राकृतिक रचना-संरचना और मानव-निर्मित रचना-संरचना दोनों का अध्ययन करता है। वह अनेकायामी मानवीय ज्ञानबोध का भी अध्ययन करता है। वह इनके पारस्परिक संपर्कन और प्रभावपरकता का तो अध्ययन करता ही है, साथ ही किसी भी क्षेत्र के महानायकों

और महानायिकाओं का भी तुलनात्मक अध्ययन करता है, चाहे यह महानायक साहित्य-क्षेत्रीय हो या दर्शन, विज्ञान, राजनीतिगत या यथार्थ जीवनगत, चाहे यह कल्पना से अंकित शील-पुरुष हो या जीवन में जयिता पाने वाले ठोस मानव। इस रूप में स्वरूपित होने के कारण ही तुलनात्मक साहित्य एक स्वतंत्र ज्ञानानुशासन बन जाता है। यहाँ यह अधिक वस्तुनिष्ठ, विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक हो जाता है।

रेनेवेलेक ने तुलनात्मक साहित्य को परिभाषित और स्वरूपित करते हुए यह कहा था कि तुलनात्मक साहित्य, भाषा विज्ञान, राजनीति विज्ञान, प्रजाति विज्ञान की सीमाओं से मुक्त साहित्य का अध्ययन है। यानी रेनेवेलेक ने तुलनात्मक साहित्य को प्रथमतः तथा अंततः शुद्ध साहित्य-क्षेत्रीय ही स्वीकार किया था, लेकिन कोएल्ब और नोक्स ने तुलनात्मक साहित्य के वैश्विक अध्ययन वाले अभिगम के प्रति रेनेवेलेक की मान्यता से प्रस्थान किया है, जो अपने-आप में सभी बंधनों और वर्जनाओं को उच्छेदित करने वाला है। साथ ही यह अतिक्रमित करने वाले मनुष्य के लिए भी बल प्रदान करता है।

कोएल्ब और नोक्स ने प्रमुख तौर पर साहित्य-सिद्धांत और तुलनात्मक अध्ययन के बीच उत्पन्न हो रही नातेदारी पर भी प्रकाश डाला है। वे यह मानते हैं कि आंदोलनों और प्रतिपादों का अध्ययन यहाँ पृष्ठभूमि में चला जाता है। फिर भी प्रतिपादों और आंदोलनों का अध्ययन निर्बाध रूप से आंदोलनों के अंतर्गत जारी है, बल्कि अपनी अभिवृद्धि पर है। यहाँ जो अंतर है वह यह है कि इसकी शिरा (Impulse) प्रदत्त कृति के क्षेत्र के अंदर से उभरती है, जो तुलनात्मक साहित्य की अपेक्षा दूसरे शीर्षकों के तहत परिभाषित होती है। यथाउत्तर-उपनिवेशवादी अध्ययन या स्त्री-अध्ययन।

एस. प्रेवर (S. Prawer) ने तुलनात्मक साहित्य के अंतर्गत प्रतिपाद्य और पूर्वकल्पन (Prefiguration) पर विचार किया है। उसके द्वारा पड़ताल के विभिन्न विचारणीय विषयों में 1. स्वाभाविक परिघटना (फेनोमिना) की साहित्यिक प्रतिनिधिता, जिसे वह व्यवहार का ढाँचा और मूलाधारीय (Perennial) मानव-समस्याओं के रूप में निर्दिष्ट करता है, 2. आवृत्ति-अभिप्राय, 3. आवृत्ति-स्थितियाँ, 4. प्ररूपों के निर्वचन का साहित्यिक प्रस्तुतीकरण और अंत में 5. पात्र (Personage) का साहित्यिक प्रतिनिधिकरण कहता है।

यहाँ श्वाल्टर (Showalter) ने जो प्रतिज्ञप्ति प्रस्तुत की है, वह साहित्य विधा के बारे में पूर्वानुमान के पुनरीक्षण को बलीकृत करता है, इस अर्थ में वह उग्र है। मंतव्य यह है कि तुलनात्मक साहित्य में यदि यौन के आधार पर विभाजित साहित्य और संस्कृति तथा परंपरा और अधीनता का अध्ययन भी समाविष्ट हो जाता है, तो दूसरी ओर कृतियों और ग्रंथों के अध्ययन के लिए प्रतिपाद्य-शास्त्र के अंतर्गत आने वाले सभी प्रतिपाद्य तुलनात्मक साहित्य का विवेच्य बनते हैं।

इसी तरह तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के लिए उत्तर-उपनिवेशवादी साहित्य के रूपों-प्ररूपों और अंतर्वस्तुओं का अध्ययन भी समाविष्ट हो जाता है। तुलनात्मक साहित्य में इसे बीसवीं शताब्दी के अधिक साभिप्राय चरण के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार तुलनात्मक साहित्य का क्षेत्र निरंतर विकसनशील सिद्ध होता है। पर तुलनात्मक साहित्य के अध्येता को अपने क्षेत्र में सक्रिय होने के लिए भाषिक विशेषज्ञता का होना आवश्यक है।

स्मरणीय है कि तुलनात्मक साहित्य जैसा ज्ञानानुशासन जब आविर्भूत हुआ था, तब यह शुद्ध साहित्यक्षेत्रीय तुलनात्मक अध्ययन के रूप में साहित्य के अध्यापन के लिए निर्मित फ्रांसीसी संकलनों की शृंखला से अस्तित्ववान् हुआ था। यह शृंखला 1816 ई. में Course d Literature Compare नाम से प्रकाशित हुई थी। रेनेवेलेक ने तुलनात्मक साहित्य जैसे पद के उद्भव पर अपने एक निबन्ध में विवेचन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि यह नाम इसके पहले अव्यवहृत और अव्याख्यायित था। पर 1820 से 1830 के बीच फ्रांस में यह नाम व्यवहृत होने लगा। यही नहीं, इस नाम का जर्मन-संस्करण Vergleichende Literature geschichte पहली बार 1854 में Morizarrriere द्वारा व्यवहृत हुआ, जबकि अंग्रेजी में मैथ्यू आर्नल्ड ने बहुवचन रूप में इसका पहला प्रयोग 1848 में लिखे अपने एक पत्र में किया।

तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के आरंभ में इसके बीज-शब्द प्रभाव (Influence) के अध्ययन का महत्वपूर्ण स्थान रहा। चेसल्स (Chasles) स्पष्ट करता है कि ऐसी आत्म-ध्वनियाँ उस राष्ट्र के लेखकों पर ही नहीं, बल्कि दूसरी संस्कृति के लेखकों पर भी अपनी प्रभाव-छाया डालती हैं। चेसल्स वह पहला व्यक्ति है, जो अंतरराष्ट्रीय साहित्य की समंजसता का आदर्शकृत चित्र उपस्थित करता है। वह यह बताता है कि ऐतिहासिक यथार्थ में पिष्टोक्तिपरकता के कुछ आधार संभव हैं। पर वह प्रभाव और जुड़ाव की पारस्परिकता पर बल देता है।

चेसल्स साहित्य के अध्ययन को संस्कृति से जोड़ता है। यहाँ एक संस्कृति का अवदान वह दूसरी संस्कृति के साहित्य में तलाशता है। पर यह तुलनात्मक साहित्य की अर्धकथा ही है। इसके युगपत् रूप में सांस्कृतिक विनिमय की पूर्णतः भिन्न धारणा भी प्राप्त होती है। माना जाता है कि 1819 जैसे आरंभिक वर्ष में भी बायरन (Byron) इस वैकल्पिक परिप्रेक्ष्य से अगवत था, क्योंकि उसने अपने Prophecy of Dante के प्राक्कथन में यह टिप्पणी की थी— "The Italians with Pardonable nationality, are particulary jealous of all that is left them as a nation—their Literature, and in the present bitterness of the classic-romantic war, are but ill disposed to permit a foreigner even to approved imitate them, without finding some fault with his altramountain presumption."

इस तरह आरंभ में साहित्य और साहित्य के बीच तथा संस्कृति और साहित्य के बीच तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन का आरंभ हुआ। आज भी तुलनात्मक

साहित्य के क्षेत्र में कई ऐसे रूढ़िवादी हैं, जो तुलनात्मक साहित्य के विषय-क्षेत्र को यहीं तक सीमित मानते और रखना चाहते हैं। पर आज तुलनात्मक साहित्य का विषय-क्षेत्र कहीं अधिक विस्तारित हो चुका है।

तुलनात्मक साहित्य को कुछ लोग अनेक साहित्यों का अलग-अलग समाकलन भी मानते हैं, जो समाकलन ऐतिहासिक या वर्णनात्मक-व्याख्यात्मक रूप में किया जाता है। हिंदी और अन्यान्य भाषाओं में भी तुलनात्मक साहित्य जैसे शीर्षक के अंतर्गत ऐसी सामग्री देखने को मिल जाती है। पर यह सामग्री तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के लिए कच्चे माल के रूप में ही उपस्थित होती है, जिसकी पारस्परिक तुलना करने की अपेक्षा बनी रहती है।

तुलनात्मक साहित्य का एक नाम विश्व साहित्य भी है। पर यहाँ भी ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अलग से 'विश्व-साहित्य' का विवरण तुलनात्मक साहित्य की अपेक्षा की परिपूर्ति नहीं करता, जब तक कि उनकी पारस्परिक तुलना न की गई हो। ठीक यही बात भारतीय साहित्य के संदर्भ में भी लागू होती है। जब अनेक भारतीय साहित्य के बीच पारस्परिक तुलना की जाएगी तभी तुलनात्मक साहित्य जैसा ज्ञानानुशासन सामने आएगा।

हेनरी रिमेक (Henry Remake) ने तुलनात्मक साहित्य को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया है। उनके अनुसार तुलनात्मक साहित्य साहित्य का वह अध्ययन है, जो एक विशेष देश की सीमा से परे तक जाता है और जो एक ओर साहित्य और दूसरी ओर ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों, विश्वासों की नातेदारी का अध्ययन बनता है, जैसे साहित्य और कला (चित्रकला, शिल्पकला, वास्तुकला, संगीतकला), दर्शन, इतिहास तथा समाज विज्ञान (राजनीति विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र), विज्ञान, धर्म आदि। संक्षेप में यह एक साहित्य का दूसरे साहित्य या साहित्यों के साथ तथा साहित्य का अन्यान्य मानव-अभिव्यक्तियों के साहित्य के साथ किया जाने वाला तुलनात्मक अध्ययन है। रिमेक की उपर्युक्त परिभाषा तुलनात्मक साहित्य के अमेरिकी स्कूल के दृष्टिकोण को ज्ञापित करती है, जो फ्रांसीसी स्कूल से भिन्न है और फ्रांसीसी प्रादर्श या प्रतिमान को तोड़ने वाली भी है। यह परिभाषा संयुक्त राष्ट्र की सीमा के पार जाकर तुलनात्मक साहित्य की प्रवृत्तियों के सारभूत को ज्ञापित करती है। इस तरह यह तुलनात्मक साहित्य के अमेरिकी निकाय का घोषणापत्र, मैनिफेस्टो भी बन जाती है। वहाँ यह केवल ऐतिहासिक या विधागत बनकर नहीं रह जाती, बल्कि बहुकालक्रमी की जगह अपनी एककालक्रमी संरचना को भी उपस्थित करती है। रिमेक ने पहली बार तुलनात्मक साहित्य-विषयक परंपरित मत को संकीर्णतावादी घोषित किया तथा तथ्यगत साक्ष्यों के आधार पर अपना विवेचन प्रस्तुत किया। उसके अनुसार फ्रांसीसी परंपरा में इस क्षेत्र में किया जाने वाला प्रभावपरक अध्ययन कल्पना-शून्य था और विधेयात्मक अभिगम से व्युत्पन्न था। इसलिए उसने अपने विकल्पात्मक प्रतिमान उपस्थित किए।

उसने बताया है कि प्रभावपरक अध्ययन में प्रायः स्रोतों की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया गया है और इस तथ्य की अनदेखी की गई है कि उस स्रोत से परवर्ती रचनाकारों ने कितना ग्रहण किया और कितना त्याग दिया। यही नहीं, उस स्रोत सामग्री से कितनी सामग्री आदानित और अभिगृहीत हुई और उसमें भी रचनाकार को किस अनुपात में सफलता प्राप्त हुई। यदि इस रूप में प्रभावपरक अध्ययन किया जाए, तो यह साहित्य-विषयक हमारे ज्ञान को अभिवर्धित करता है। साथ ही वह कलात्मक साहित्य-कृति की रचना-प्रक्रिया की समझ में भी योगदान करता है।

आज रिमेक की यह व्याप्तिपरक परिभाषा बार-बार उद्धृत की जाती है। फ्रांसीसी निकाय जहाँ तुलनात्मक साहित्य को चौहद्दियों में बाँधता रहा है, वहाँ रिमेक की परिभाषा ने ऐसी हदबंदियाँ तोड़ डाली हैं। सच्चाई यह है रिमेक तथा उसके सहयोगियों ने ऐसी परिभाषा प्रस्तावित की, जिसने संज्ञानरूप में सीमांतों को अतिक्रमित किया। इस परिभाषा की बड़ी विशेषता यह रही कि इसने तुलनात्मक साहित्य को दो साहित्यों के बीच का अध्ययन-मात्र नहीं रहने दिया और किसी भी दूसरे ज्ञान-क्षेत्र के साथ साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन को मान्यता प्रदान की। रिमेक ने यह स्पष्ट किया है कि तुलनात्मक साहित्य को सर्वथा भिन्न ज्ञानानुशासन के रूप में न मानकर इसके अपने नियमों के साथ-साथ सहयोगी ज्ञानानुशासन के बतौर देखा जाना चाहिए, इसे भिन्न विषय-क्षेत्रों के बीच सेतु बनाने वाले अध्ययन के बतौर देखा जाना चाहिए। उसके इस अभिगम का बीज-शब्द 'प्रक्रिया' (Process) है, जबकि फ्रांसीसी निकाय का एक बीज शब्द 'प्रभाव' के साथ-साथ 'उत्पाद' (Product) था। वह मूलभूत बुनियादी नियमों को स्थापित करने की जगह इसकी स्वतंत्रता तुलनात्मक साहित्य-क्षेत्र में काम करने वाले चिंतकों-विचारकों पर छोड़ देता है। रिमेक अपने चिंतन में जिस तंग करने वाले सवाल की अपेक्षा करता है, वह राष्ट्रवाद का सवाल है। इसीलिए वह अपनी परिभाषा में राष्ट्र का उल्लेख नहीं करता, बल्कि उसकी जगह देश का उल्लेख करता है, जो अधिक स्थूल होता है, विचारधारापरक नहीं होता। इस तरह यह मानना पड़ेगा कि रिमेक की परिभाषा साभिप्राय तौर पर एक अराजनीतिक परिभाषा के रूप में उपस्थित होती है।

अराजनीतीकरण की यह प्रक्रिया ही अमेरिकी निकाय के तुलनात्मक साहित्य का प्रमाण-चिह्न या हॉलमार्क (Hall Mark) है, जो यूरोप में हुए इसके विकास के विरोध में पड़ता है। यही नहीं, यह बहुत दूर तक अमेरिकी नव्य आलोचना की प्रभाव-छाया में भी विकसित दीखता है।

गेले (Gayley) ने यह प्रस्तावित किया था कि तुलनात्मक साहित्य को साहित्यिक भाषाशास्त्र से न तो कुछ अधिक, न कुछ कम के बतौर देखा जाना चाहिए और इस तरह उसने अमेरिकी निकाय की परिभाषा का पूर्ववर्ती संस्करण उपस्थित किया था। उसी ने इस प्रकार के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान, नृतत्वविज्ञान,

भाषाविज्ञान, समाजविज्ञान, धर्म आदि के तुलनात्मक अध्ययन की बात सुझाई थी, जो यूरोप में विकसित 'राष्ट्रवाद' के अध्ययन से मुक्त और अलग थी। इस तरह गेले ने तुलनात्मक साहित्य के लिए अंतर-ज्ञानानुशासनात्मक क्षेत्र और अभिगम को महत्त्व दिया। उसके अनुसार साहित्यिक अध्ययन अन्य संबंधित विषयों के तंत्रजाल का अनुभाग ही है, जो परस्पर एक-दूसरे को न केवल संबलित करता है, बल्कि संस्कृति की आवयविक संरचना के अनुभाग के बतौर प्रस्तुत भी होता है।

अमेरिकी निकाय का तुलनात्मक साहित्य-विषयक अध्ययन सार्वभौमवाद से प्रेरित रहा। गेले ने फ्रांसीसी निकाय की बुनियादी स्थापना को चुनौती दी। वह स्थापना तुलनात्मक साहित्य को दो या दो से अधिक साहित्यों के अध्ययन को ही अपने क्षेत्र में समाविष्ट करने वाली थी। गेले ने यह बताया कि अंतरराष्ट्रीय संबंधों और प्रभावों को भी इस विषय की एक शाखा माना जाना चाहिए। यही नहीं, किसी एक साहित्य का ऐसा अध्ययन भी, जो मानवता की दौड़ के मनोविज्ञान में साहित्य के विवेक और निमयों को तलाशता है, उसे भी वैज्ञानिक तौर पर तुलनात्मक कहा जाना चाहिए।

हचसन, मेकाले, पोस्नेट (Hutcheson, Macalay, Posnett) को तुलनात्मक साहित्य का प्रतिष्ठापक पिता (Antipadean) माना जाता है। उसने 1886 में *Comparative Literature* नामक पुस्तक लिखी और 1901 में ठीक पंद्रह वर्षों बाद *The Science of Comparative Literature* नामक शोध-आलेख प्रकाशित किया। उसी ने पहली बार विश्वविद्यालयों और संस्थानों में तुलनात्मक साहित्य पीठ की स्थापना की बात की। उसका प्रतिमान विकासात्मक प्रतिमान सिद्ध हुआ, जिसमें उसने यह प्रस्तावना-स्थापना की कि इस विषय का बुनियादी सिद्धांत सामाजिक विकास, वैयक्तिक विकास और मनुष्य के सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन पर वातावरण तथा परिवेश के प्रभाव का अध्ययन है। उसने माना कि तुलनात्मक शब्द उसकी दृष्टि में ऐतिहासिक का पर्याय है। उसने उन चरणों के पुनर्चिह्न को निजी और सामूहिक तौर पर रेखांकित किया, जो उच्चतर सामाजिक जीवन तक पहुँचाते हैं। पोस्नेट संयुक्त राष्ट्र और न्यूजीलैंड में पढ़ाता रहा। उसके आधार पर ही यह संभव हुआ कि पुरा वैश्विक तुलनात्मक साहित्य और नव्य वैश्विक तुलनात्मक साहित्य के बीच अंतर किया जा सके। प्राचीन में जहाँ उद्गम-स्रोत पर बल था, साहित्य-पाठों के दस्तावेजीकरण पर बल था और इस रूप में राष्ट्रीय चेतना के सांस्कृतिक आधार की स्थापना पर भी बल था; वहाँ नए अध्ययन में राष्ट्रवादी सीमाओं के अतिक्रमण, काल और स्थल के रूप में मानवता की उपलब्धि तथा एक ज्ञानानुशासन की रेखा के परे अनेक ज्ञानानुशासनों के रेखांकन पर बल था। अब राष्ट्रीय साहित्य को परिभाषित करने का प्रश्न अप्रासंगिक हो गया था और एक महान् नैतिक आवश्यकता हमारे सामने उपस्थित थी, जिसमें महान् कलाओं के द्वारा उत्पन्न सत्य का अध्ययन ही एकमात्र लक्ष्य बन गया था।

तुलनात्मक साहित्य का नया वैश्विक निकाय मूलतः कभी अनैतिहासिक नहीं रहा, जैसा कि कुछ विचारकों ने इसे समझ लिया था। इसके पुरा वैश्विक और नव्य वैश्विक निकायों के बीच जो मतभेद था, वह मूलतः इतिहास की अवधारणा को लेकर था। जो नव्य वैश्विक निकाय का विकासात्मक प्रतिमान था, वह राष्ट्रीयपरक संघर्षों से मुक्त समाज की अधोन्मुख गतिकी के साथ था, वह अनैतिहासिक नहीं था। हॉर्वर्ड विश्वविद्यालय में 1890 के दशक में तुलनात्मक साहित्य के प्रोफेसर आर्थर मार्श (Authur Marsh) थे। उन्होंने तुलनात्मक साहित्य को परिभाषित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि यह साहित्य की संपूर्णता में उसकी परीक्षा करता है। वह उनकी तुलना करता है, उनका वर्गीकरण करता है, उन्हें वर्गबद्ध करता है, उनके कारणों की पड़ताल करता है, उनके कारणों का निर्धारण करता है। तुलनात्मक साहित्य के सही सबक में यह सब-कुछ आ जाता है। यह जो नव्य वैश्विक अभिगम बीसवीं शती के आरंभ में उभरा, उसमें विभाजन की अनुपस्थिति थी और मानव-सर्जनात्मकता की महानता में आदर्शकृत विश्वास का अभाव था। अनैतिहासिक की समस्या बाद में आई, जबकि उसके अमेरिकी संस्करण में नव्य आलोचकों के द्वारा रूपवादी प्रवृत्ति का प्रवेश हुआ। साहित्यिक आलोचना में यह एक ऐसा दृढ़ स्तंभ था कि साहित्येतिहास का महत्त्व क्षीण पड़ गया और सामाजिक राजनीतिक या आर्थिक इतिहास के तंग करने वाले सवालों से यह अलग हो गया।

फ्रेडरिक जेमसन ने *The Prison House of Language* नामक पुस्तक लिखी, जिसमें उसने रूसी और अमेरिकी संस्करण के बीच के अंतर को स्पष्ट किया। इन दोनों आंदोलनों ने साहित्यिक और दार्शनिक जलवायु में अधिक सामान्य ऐतिहासिक अंतरण को प्रतिबिंबित किया। यह भी ठीक उस समय जब उन्नीसवीं शताब्दी जा रही थी। इस अंतरण को प्रायः विधेयवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के बतौर वर्णित-व्याख्यायित किया गया, जो राष्ट्रीय और सांस्कृतिक स्थितियों की रचना के अनुरूप भिन्नता दिखाते थे या कि आविर्भूत होते थे। यही वह प्रभुत्वपरक विचारधारा थी, जिसके विरुद्ध युवतर लेखकों ने विद्रोह किया। यहीं तुलनात्मक साहित्य या रूपवादी प्रतिमान धीरे-धीरे उभरता है। पहले तो जेमसन यह स्वीकार करता है कि यह दुनिया के आदर्शवाद का विधेयवाद के निरस्तीकरण के साथ संयोग है। पर 1945 के बाद जब दूसरा विश्वयुद्ध समाप्त हो जाता है, तब यूरोप और संयुक्त राष्ट्र और कॉमनवेल्थ सभी तरह के पूर्व अनुमानों पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य होते हैं। तकनोलॉजी विकसित हो उठती है। जन-संचार विकसित होता है। चिकित्सीय उपचार की देखरेख बढ़ती है और मनुष्य के जीवन-स्तर में बढ़ोत्तरी होती है, विशेषतः औद्योगीकरण वाले समाज में। दो विश्वयुद्ध बीत गए होते हैं। लाखों लोगों की जान जा चुकी होती है, जिसके मूल में राष्ट्रवादी-सीमावादी संघर्ष सक्रिय रहा होता है। इसीलिए तुलनात्मक साहित्य के नए अध्येताओं ने Great Books Model की राष्ट्र-सीमा के पार जाकर

आदर्शवादी अभिगम को अपनाया, जहाँ महान् अंतर्राष्ट्रीय कला के मानवीकरण की शक्ति का पूर्वानुमान किया जा रहा था। यहाँ अध्ययन का विषय पाठ बना। संदर्भ की समस्याएँ दरकिनार हो गईं। रेनेवेलेक ने स्पष्ट किया कि तुलनात्मक साहित्य भाषापरक, प्रजातिपरक और राजनीतिक सीमा से मुक्त तौर पर साहित्य का किया जाने वाला अध्ययन है। इसे किसी एक प्रविधि में सीमित नहीं किया जा सकता है, न ही इसमें की जाने वाली तुलना को वास्तविक ऐतिहासिक सरोकारों तक ही परिसीमित किया जा सकता है। यहाँ तुलनात्मक तत्त्व जैसे भाषा, विधा तथा ऐतिहासिक तौर पर असंबद्ध अन्वेषणीय प्रभावों का अध्ययन, वाचन, पाठन समानांतर साक्ष्यों के आधार पर किया जाता है। वेलेक के अनुसार साहित्य-अध्ययन की तीन प्रमुख शाखाएँ क्रमशः इतिहास, सिद्धांत और आलोचना हैं। ये तीनों परस्पर एक-दूसरे को समाविष्ट करते हैं। तुलनात्मक साहित्य भी तभी विकसित हो सकता है और होगा, जब यह ऐसी कृत्रिम सीमाओं का परित्याग कर दे और महज साहित्य का अध्ययन बना रहे।

रेनेवेलेक ने पुरा वैश्विक और नव वैश्विक निकायों के बीच समन्वय का भी प्रयास किया, जहाँ उसने यूरोपीय रूपवाद से आरंभ करके अमेरिकी तुलनात्मक साहित्य के महान् पुरा पुरुषों तक आकर परिसमाप्ति की। उसका दृष्टिकोण नैरन्तर्यमूलक है। वह यह मानता है कि तुलनात्मक साहित्य के लिए इतिहास एक केंद्रीय विषय है, पर यहीं वह स्पष्ट कर देना चाहता है कि इसे किसी अन्य प्रकार के इतिहास की जगह केवल संस्कृति का इतिहास होना चाहिए। निश्चय ही यह जागरूक तौर पर समाज-आर्थिक मुद्दों की की जाने वाली अपेक्षा थी, जो प्रतिक्रिया-स्वरूप सामने आई थी और 1970 तथा 1980 के दशकों में उत्तरी-अमेरिकी आलोचना में नव्य इतिहासवाद के जन्म का कारण बनी। संस्कृतियों के आर-पार पाठों की तुलना करने का प्रयास कुछ बुनियादी बीज-प्रश्नों से कट जाना था, इसने तुलनाशास्त्रियों को इस तत्त्व की ओर उन्मुख किया कि आयरिश साहित्य को अंग्रेजी साहित्य से अलग नहीं किया जाना चाहिए, जैसा प्रायः गैर-साहित्यिक सिद्धांत के आधार पर किया जाता है। यहीं यह विमर्श भी उपस्थित हुआ, विशेषतः अफ्रीकी साहित्य के संदर्भ में, कि क्या कोई विशेष विश्व-दृष्टि या कोई विशिष्ट स्थानीय रंगत राष्ट्रीय साहित्य के शील (Traits) की उत्पादिका मानी जा सकती है? यहाँ किसी भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य का उल्लेख वर्जित होता है, चाहे वह आक्रमण का उल्लेख हो या उपनिवेशीकरण का अथवा आर्थिक उपेक्षा का। यहाँ इन सभी को दर-किनार कर दिया जाता है। यहाँ साहित्य ही विमर्श का मूल बिंदु रहता है, जो बाह्य यथार्थ से कटा हुआ होता है।

पश्चिमी साहित्य के घटकों के अतिरिक्त उपराष्ट्रीय साहित्य का अध्ययन भी तुलनात्मक साहित्य के अंतर्गत आया। पूर्ववर्ती में जहाँ एक साहित्यिक सादृश्य अध्येता के सामने रहता था, जो उसकी सामान्य प्रगुणात्मकता को प्रकट करता था,

वहाँ परवर्ती में एक सामान्य का तत्त्व सामने रहता था, जो सबमें समान रूप से उन्हें परस्पर अनुस्यूत करते हुए अभिव्यक्त होता था। परिणामतः यह अभिमत सामने आया कि तुलना में न केवल वैयक्तिक संस्कृति के सीमांतों की पारगमिता को लिया जाना चाहिए, अपितु इन सबके साथ-साथ एक बृहत्तर श्रेणीमान को ग्रहण किया जाना चाहिए। इसीलिए यह मत व्यक्त किया गया कि यदि हम भारतीय साहित्य का अध्ययन करते हैं, तो पश्चिम के किसी एक साहित्य के साथ उसकी तुलना नहीं होनी चाहिए, बल्कि पाश्चात्य साहित्य की अवधारणा के साकल्य के साथ उसकी तुलना की जानी चाहिए। साथ ही क्षेत्रीय साहित्यों को भारत में उपराष्ट्रीय साहित्य के घटकों का महत्त्व (Status) दिया जाना चाहिए। यह जो दृष्टिकोण था, वह पाश्चात्य तुलनाशास्त्रियों से पूर्णतः भिन्न परिप्रेक्ष्य में उभरा था। डॉ. स्वपन मजूमदार इस मत के प्रस्तावक-सम्पोषक बने।

तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के आरंभ में राष्ट्रवादी अवधारणा के कारण जो अहम तथ्य उभरकर सामने आया था, वह यह था कि तुलना में किसी एक साहित्य को श्रेष्ठ-उत्कृष्ट मान लिया जाता था, तो दूसरे को उससे निम्न, अवरकोटिक स्थान दिया जाता था। इसी कारण पाश्चात्य परंपरा अंतरराष्ट्रीय उच्चता की स्थिति में पहुँची हुई थी।

मजूमदार का यह दृष्टिकोण भी रहा कि पश्चिम से आयातित या गृहीत तुलनात्मक साहित्य के आलोचनात्मक उपकरण सभी साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए जरूरी नहीं हैं। यह भिन्नता का वह बिंदु था, जिससे कई अफ्रीकी तुलनाशास्त्री भी सहमत थे। यही नहीं, एशियाई और लातिनी अमेरिकी आलोचकों की भी ऐसी ही मान्यता थी। महर्षि अरविंद ने भी कई भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्यों की ओर हमारा ध्यान खींचा था और तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन के क्रम में एक व्यवस्था पर अन्य व्यवस्थाओं को अधिरोपित होने के खतरों को भी उजागर कर दिया था। अरविंद ने यह भी स्पष्ट किया था कि पाश्चात्य आलोचकों के द्वारा कैसे भारतीय साहित्य को अवमूल्यित किया गया था तथा यह भी दर्शाया था कि यदि यूरोप स्वयं उपनिवेशीकृत होता, तो भारतीयों ने उसका किस रूप में मूल्यांकन किया होता। वे एलियट को खारिज कर देते, उसे अपरिष्कृत, अशिष्ट (Crude) मानते और उसमें उपलब्ध जंगली काल (Savage epoch) की रिक्तता को दर्शाते। यहाँ दाँते की महान् कृति को निष्ठुर और अंधविश्वासपरक धार्मिक स्वैरकल्पना को दुःस्वप्न के बतौर देखा जाता। प्रतिभा-संपन्न (जीनियस) होने के बावजूद शेक्सपीयर को उन्मादी और जंगली माना जाता। यूनान, स्पेन और इंग्लैंड के सारे नाटकों को बुरे आचारशास्त्र के संघटक के बतौर और उग्रवादी आतंक (Terror) के बतौर देखा जाता।

तुलनात्मक साहित्य में जो प्रच्छन्न है, वह यह कि यूरोप और संयुक्त राष्ट्र के बाहर अपनी गृह-संस्कृति से आरंभ करने की जरूरत है और बाहर देखने के लिए

साहित्य के उत्कर्ष भरे यूरोपीय प्रतिमान के साथ देखने की आवश्यकता है। यह भारतीय साहित्य जैसी अवधारणा पर पहुँचने के लिए हमारे साहित्य-विभागों को न केवल आधुनिकीकृत करेगा, बल्कि हमारे साहित्य की महानता और श्रेष्ठता की पड़ताल और पाठ की भी चिन्ता करेगा तथा कालक्रम से गुजरते हुए भारतीय साहित्य की सक्रियता के व्यापक दृष्टिकोण को भी उपस्थित करेगा। भारतीय तुलनात्मक साहित्य परंपरा के महत्त्व पर बल देता है और भारतीय प्रतिमानों के आधार पर रचित साहित्येतिहास को भी स्वीकार करता है। ऐसी मान्यता अफ्रीकी तुलनाशास्त्रियों के बीच भी मान्य एवं प्रभुत्वपूर्ण रही है।

पश्चिमी तुलनाशास्त्रियों ने वैश्विक (Universal) जैसे पद का व्यवहार किया। इस पद के विषय में शिनुआ एशाबा (Chinua Achebe) ने 1975 में यह घोषणा की कि यह पद अत्यंत संकीर्ण, अहम्-सेवी है तथा यूरोप के प्रांतीयतावाद, संकीर्णतावाद (Parochialism) को दिखाता है। इस परिप्रेक्ष्य में देखे जाने के बाद तुलनात्मक साहित्य राजनीतिक सक्रियता के परिप्रेक्ष्य में उभरता है, जिसका एक अनुभाग उसके पुनर्विन्यास का है, तो दूसरा उसकी राष्ट्रीय पहचान का है।

यहीं तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन में अनुवाद की भूमिका सामने आती है। वास्तव में विश्व के तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन-क्रम में अनुवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। सच्चाई तो यह है कि अनुवाद-कर्म भी अपने-आप में तुलना पर ही निर्भर है, बल्कि तुलना इसके मूल में निहित है। बिना तुलनात्मक अवबोध के कोई अनुवाद कभी संपन्न नहीं किया जा सकता। पुनः भिन्न-भिन्न साहित्यों के अध्ययन-क्रम में भी मूल की जगह अनुवाद सुविधा से प्राप्त होता है, जिससे तुलनाशास्त्रियों के लिए तुलनात्मक अध्ययन करना सुगम हो जाता है।

अपने देश में यह भी एक विचारणीय विषय रहा है कि तुलनात्मक साहित्य-विषयक तुलना का आरंभ घरेलू या देशी संस्कृति से किया जाए और उसके बाद बाहर देखा जाए, बजाय इसके कि साहित्यिक उद्देश्य के यूरोपीय प्रतिमान के बतौर उसे पहले निरूपित किया जाए, फिर वहाँ से प्रस्थान करके अपनी घरेलू या देशी संस्कृति पर विचार किया जाए। यहाँ स्मरणीय है कि भारतीय तुलनात्मक साहित्य एसोसिएशन ने 1981 में अपने संगठन की प्रमुख सोद्देश्यता को इस रूप में निर्दिष्ट किया था कि यह संगठन भारतीय साहित्य की अवधारणा तक पहुँचेगा। यह हमारे साहित्य-विभागों को न केवल आधुनिकीकृत करेगा, बल्कि हमारे साहित्य की महानता को अन्वेषित करने के दायित्व की चिन्ता करेगा और कालक्रम से भारतीय साहित्य की सक्रियता के व्यापक फलकीय दृष्टिकोण को भी उपस्थित करेगा। वहाँ यह माना गया था कि भारतीय तुलनात्मक साहित्य का बुनियादी सबक परंपरा के महत्त्व पर जोर देना और भारतीय प्रतिमानों के आधार पर निर्मितव्य साहित्येतिहास की सर्जना करना होगा। कहना होगा कि ठीक इसी तरह का दृष्टिकोण अफ्रीकी तुलनाशास्त्रियों के यहाँ भी उभरा।

पूर्ववर्ती तुलनात्मक साहित्य यूरोपीय साहित्य और संस्कृति को श्रेष्ठ मानता था और उसका प्रभाव अफ्रीकी आदि लेखन पर दर्शाता था। यहाँ पश्चिमी तुलनाशास्त्रियों के द्वारा एक विशेष पद सार्वभौम (Universal) का व्यवहार किया गया था, जिसे वह अपनी श्रेष्ठता के प्रतीक-रूप में व्यवहृत करते थे। पर 1975 में शिनुआ एशाबा (Chinua Ashaba) ने इसके विरोध में घोषणा की। पर उत्तरी अमेरिकी तुलनाशास्त्रियों ने महान् कृतियों की सार्वभौम सभ्यता की संभावनाओं पर जो विचार किया, उससे यह भिन्न था। इस परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक साहित्य एक राजनीतिक सक्रियता, संस्कृति को पुनः निर्मित और पुनः बलीकृत करने की प्रक्रिया का भाव और उत्तर-उपनिवेशी युग में राष्ट्रीय पहचान का प्रश्न बन गया था। इस प्रक्रिया में भाषा का प्रश्न भी संगीन बनकर उभरा। यहीं यह स्थापना की गई कि एफ्रो-अमेरिकी साहित्य को विशाल आनुवंशिक रूप में देखा जा सकता है। इसी को विशाल पुनरीक्षणवाद भी कहा जाता है।

19वीं शताब्दी में तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन में प्रमुख अंतर उभरकर सामने आया। आरंभ में एक ओर फ्रांसीसी निकाय के विधेयवादी दृष्टिकोण पर बल था और पाठों की तुलना करने के निकष को संकीर्णतर करने का प्रयास था, दूसरी ओर जर्मन निकाय था, जिसका बल युगचेतना (Zeitgeist), साथ ही प्रजातीय और संस्कृतिमूलक जड़ों पर था। इस जर्मन प्रतिमान को नाजियों ने ग्रहण किया था, जैसा दक्षिणपंथी विद्वानों ने दिखाना चाहा कि वहाँ आनुवंशिक नीतियों के लिए साहित्यिक और ऐतिहासिक वैधता थी, जिसने आर्य जातियों को दूसरी सभी जातियों की अपेक्षा श्रेष्ठतम कोटि में रखा था।

1960 के आरंभिक दशक तक एक ओर तो विधेयवादी प्रतिमान ही चल रहा था, तो दूसरी ओर रूपवादी प्रतिमान। 1970 के आरंभिक दशक तक आते-आते न केवल ये दोनों प्रतिमान गंभीरता से चुनौती पाने लगे थे, बल्कि यहीं यूरो-अमेरिकी परंपरा के बाहर विकल्पात्मक प्रतिमान बनकर सामने आए थे। आज वह समय आ गया है कि हमारे पास तुलनात्मक साहित्य के परवर्ती यूरोपीय प्रतिमान को, (बीज-प्रश्न के रूप में सांस्कृतिक पहचान, साहित्यिक मापदंड (Cannon), सांस्कृतिक प्रभावों के राजनीतिक निहितार्थ तथा साहित्येतिहासों का कालांकन) और दृढ़तापूर्वक अमेरिकी रूपवादी अभिगम के गैर-इतिहासवादी दृष्टिकोणसबको खारिज किया जाए। आज हमें गत्यात्मक तुलनात्मक साहित्य की अपेक्षा है, जिसकी तुलना हम इसके आरंभिक विषय-प्रतिपादन से कर सकते हैं।

एक ओर जहाँ फ्रांसीसी निकाय ने तुलना की प्रक्रिया में भाषिक निकाय के महत्त्व पर बल दिया था, तो दूसरी ओर अमेरिकी निकाय ने विश्व-साहित्य की महान् कृतियों के पाठों को इस अध्ययन से जोड़ा था, वहाँ ब्रिटेन ने इन दोनों निकायों के बीच असहज तौर पर अंतरण करते हुए एक जिज्ञासु मध्यम मार्ग की खोज कर ली

थी। आधुनिक भाषा-अध्ययन विभागों में जहाँ एक प्रकार से फ्रांसीसी निकाय की ओर झुकाव था, वहाँ अंग्रेजी अध्ययन-विभागों में यह झुकाव अमेरिकी के प्रति था। जर्मनी में मार्क्सवादी आलोचना के निरंतर पड़ रहे प्रभाव ने फ्रांसीसी विधेयवादी प्रभाव को क्षीणतर किया। संभवतः ब्रितानी तुलनात्मक साहित्य का सर्वाधिक मौलिक अवदान स्थापन (Placing) की अवधारणा में है, पाठों को सन्निधान (Juxtapose) में रखने की प्रक्रिया में है, जहाँ संस्कृति के पार जाकर कृतियों का नया वाचन संभव हो पाता है। प्रश्न उठ सकता है कि स्थापना (Placing) क्या है? एस. प्रेवर (S. Prawar) ने इसे परिभाषित करते हुए बताया है कि अनेक पाठों अथवा पाठ की श्रृंखलाओं का पारस्परिक आलोकीकरण एक-एक करके उस बृहत्तर समझ पर विचार करता है, जो असंख्य कृतियों, रचनाकारों और साहित्य-परंपराओं के स्थापन (Zuxta posing) से और सादृश्य से व्युत्पन्न होता है।

हेनरी गिफोर्ड (Henry Gifford) ने सर्वाधिक उपयोगी तुलना को निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि वह तुलना सर्वाधिक उपयोगी है, जिसे रचनाकारों ने स्वयं ही स्वीकार किया है और अपने पाठकों को यह चुनौती दी है कि वह अभिज्ञान के धक्के से उसे उद्घाटित करें। यहाँ एक रचनाकर इतना सचेत हो जाता है कि वहाँ स्वयं उसके और दूसरे के बीच एक आत्मीयता अस्तित्ववान् होने लगती है। हेनरी जेम्स ने इसे तुर्गनिव के साहित्य के संदर्भ में अनुभव किया था। पाउंड ने इसे प्रॉपर्टियस (Propertius) और पुश्किन ने इसे बायरन के संदर्भ में अनुभव किया था।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक के आरंभ में जहाँ जूलिया क्रिस्तिवा ने पहली बार अंतरपाठीयता की बात की और यॉक देरिदा तथा हेराल्ड ब्लूम ने इस अवधारणा को शिखर पर पहुँचा दिया, उससे बहुत पहले मैथ्यू आर्नल्ड ने उसका स्पष्ट संकेत दे दिया था। आर्नल्ड ने बताया था कि हर कहीं जहाँ कोई भी संबंध-सूत्र है, वहाँ सभी साहित्य-पाठ महान् अंतरपाठीय चित्रपट (Tapestry) के अनुभाग हैं।

तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद-अध्ययन के बीच की नातेदारी प्रायः जटिल और समस्यापरक मानी जाती रही है। अनुवाद को प्रायः रचनात्मकता और मेधा की दृष्टि से उसका रंक संबंधी माना जाता रहा है। हिलरी बैलों ने 1931 में अपने टेलोरियन व्याख्यान में जो मत व्यक्त किया था, उसका निचोड़ यह था कि न तो इसके महत्त्व को समझा जा सका है और न ही इसकी कठिनाइयों पर ध्यान दिया जा सका है। अनुवाद को प्रायः मूल रचना-कर्म का महत्त्व नहीं दिया जा सका है। इसलिए मूल कृति की अपेक्षा अनुवाद को सदैव दोयम ही माना जाता रहा है। तुलनात्मक साहित्य के लिए सिद्धांतविदों ने अपने अध्ययन-कर्म में जहाँ अनुवाद की अदा की जाने वाली भूमिका को स्वीकार किया है, वहीं मूल भाषा में लिखित साहित्य के वाचन पर बल दिया है। तुलनात्मक साहित्य के अध्ययन ने अनुवाद को निर्वासित (Relegate) करने की दिशा में बढ़त दिखाई है। जहाँ अनुकरण या अनुरूपण की बात की गई है, वहाँ अनूदित पाठ

को द्वितीयक महत्त्व का ही माना गया है। जहाँ तक द्विध्रुवी तुलनात्मक अध्ययन का प्रश्न है, वहाँ यह अनुवाद के विचार के विरुद्ध दृढ़ता से सामने आया है। तुलनात्मक साहित्य के द्विध्रुवी युग्म के प्रतिमान के अनुरूप मूल पाठ को उसी भाषा में पढ़ा जाना चाहिए, जिसमें वह लिखा गया है। इसे अनुवाद से अधिक श्रेष्ठ और उच्चतर माना जाता है, पर उत्तरी अमेरिकी प्रतिमान, जो साहित्य-पाठों में सार्वभौम मूल्यों पर आधारित है, उसने अनुवाद के प्रश्न की उपेक्षा की। वे प्रक्रियाएँ, जिनके द्वारा कोई भी पाठ एक संदर्भ से दूसरे संदर्भ में रूपांतरित होता है, उन्हें या तो अध्ययन के लिए उपयोगी नहीं माना जाता है या उसे साहित्य के विद्वानों के बजाय भाषाविदों के द्वारा विकसित किए जाने वाले सीमांत के रूप में देखा जाता है।

सच पूछिए तो अनुवाद के मूल में ही तुलना का व्यापार समाहित है। तुलना स्रोत पाठ और लक्ष्य पाठ के बीच होती है। जब हम स्रोत पाठ से लक्ष्य पाठ की ओर अनुवादक की भूमिका में प्रस्थान करते हैं, तो प्रत्येक भाषिक एकक को तुलनात्मकता में ही आँकते या तौलते हैं और लक्ष्य भाषा में उसका रूपांतरण सटीकता में करते हैं। इस दृष्टि में अनुवाद-कर्म के आरंभ में ही तुलनात्मक साहित्य के मूलभूत व्यापार की भूमिका संलक्षित होती है। दूसरी ओर अनूदित साहित्य स्वयं में वैसी आधारभूत सामग्री बन जाता है, जहाँ एक मूल पाठ के साथ तुलनात्मक साहित्य का अध्येता उसकी तुलना करता दीखता है। चाहे हम जितना भी अस्वीकार करें कि अनूदित पाठ मूल का स्थान नहीं ले सकता, पर हमें तुलनात्मक साहित्य की सक्रियता के लिए अनुवाद पर निर्भर होना ही पड़ता है। इस तरह अनुवाद और तुलनात्मक साहित्य के संबंध अन्योन्याश्रित रूप में हमारे सामने आता है। जहाँ तक अनुवाद के द्वितीयक महत्त्व की बात की जाती है, वह केवल साहित्यिक अनुवाद क्षेत्र में देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त अन्य उपयोगी पाठों के अनुवाद में अनुवाद की द्वितीयकता सामने नहीं आती और वहाँ अनुवाद तुलनात्मक अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण रूप में अपनी भागीदारी करता है। वास्तव में अनुवाद एक प्रकार का माध्यम या चैनल है, जिसके द्वारा विदेशी प्रभाव देशी संस्कृति के क्षेत्र में दखल डालते हैं, उसे चुनौती देते हैं और यहाँ तक कि उसे अवमूल्यित भी करते हैं। इसलिए तुलनात्मक साहित्य में अनुवाद का हाशियाकरण नहीं किया जा सकता। बैसनेट (Bassnett) और लिफेवरे (Lefevere) ने अपनी पुस्तक '*Translation History and Culture*' की भूमिका में लिखा है कि एक ज्ञानानुशासन के रूप में अनुवाद-अध्ययन अपने विकास के साथ, अपने अधिकार में एक प्रविधि के साथ, तुलनाशास्त्र और सांस्कृतिक इतिहास पर लागू होता है। आज समय आ गया है कि इस पर पुनर्विचार किया जाए। अनुवाद विश्व-संस्कृति के विकास में उसे आकृत करने की प्रमुख शक्ति रहा है। इसीलिए बैसनेट का दावा है कि तुलनात्मक साहित्य का कोई भी अध्ययन बिना अनुवाद की मर्यादा के अस्तित्ववान् नहीं हो सकता।

तुलनात्मक साहित्य अपना यह तर्क करना जारी रखता है कि इसे स्वतंत्र ज्ञानानुशासन माना जाए या नहीं, पर अनुवाद-अध्ययन दृढ़तापूर्वक यह बताता है कि यह अपने-आप में एक ज्ञानानुशासन है और इसकी शक्ति और इसका कर्म विश्वव्यापी क्षेत्र में इस दृढ़ता को संपुष्ट करता है। पर आज वह समय आ गया है कि तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद के बीच की नातेदारी पर पुनर्विचार किया जाए।

1979 में एच. हार्टमैन (H. Hartmann) ने 'The Unhappy Marriage of Marxism and Feminism' शीर्षक आलेख में सही तौर पर विवाह के रूपक का व्यवहार करते हुए बड़े विनोदपूर्ण ढंग से समस्याओं की शृंखला को उपस्थापित किया है। हार्टमैन (Hartmann) प्रश्न करती है कि क्या इस नातेदारी को भरा-पूरा बनाए रखा जा सकता है अथवा समय आ गया है कि इसे विच्छेदीकृत कर दिया जाए। ठीक इसके अनुरूप तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद-अध्ययन की नातेदारी में भी हम उस रूपक का आग्रहण कर सकते हैं कि क्या परंपरित तौर पर साहित्य के साथ यह एक प्रभुत्वपरक जोड़ीदार (Partner) के रूप में बना रहा है, जहाँ साहित्य को अनुवाद से अधिक श्रेष्ठ माना गया है? पर इस नातेदारी का पुनर्भाषीकरण उस शक्ति-संतुलन को प्रतीपित कर देता है और अनुवाद-अध्ययन को एक प्रमुख सहयोगी के रूप में देखता है, जो तुलनात्मक साहित्य का सहयोगी है। तुलनात्मक साहित्य अपने को परिभाषित करने और स्वरूपित करने के सिलसिले में सदैव संघर्षरत रहा है। यह कुछ विशिष्ट मूल्यों को बनाए रखने में और प्रविधि तथा कार्यक्षेत्र (Scope) की स्पष्टतर परिभाषा के लिए निरस्तीकरण की पुकार भी रहा है।

कोई भी लेखन किसी शून्य में नहीं लिखा जाता है, वह किसी-न-किसी संदर्भ में घटित होता है। पाठों के अनुवाद की प्रक्रिया जो एक पाठ से दूसरी संस्कृति के बीच चलती है, वह कोई निस्संग या तटस्थ या भोली-भाली पारदर्शी क्रिया नहीं होती। अनुवाद अपने-आप में अंतरण की सक्रियता है। इसलिए अनुवाद की राजनीति और अनुवादीकरण की अपेक्षा अतीत हमारा कहीं बृहत्तर अवधान खींचते हैं। निश्चय ही अनुवाद ने अपने सांस्कृतिक परिवर्तन में अपनी बुनियादी भूमिका अदा की है और जैसा हम समझते हैं, हम अनुवाद-कर्म की बहुकालक्रमिता को मानते हैं। इससे हम बहुत दूर तक स्रोत-पाठ की संस्कृतियों की तुलना में लक्ष्य पाठ से प्राप्त हो रही संस्कृति को समझ सकते हैं।

अंततः तुलनात्मक साहित्य अपने-आप में एक ज्ञानानुशासन है, जिसका अपना अस्तित्व है। स्त्री-अध्ययन के सांस्कृतिक कटाव-कर्म और उत्तर उपनिवेशवादी सिद्धांत तथा सांस्कृतिक अध्ययनों ने भी आज साहित्य-अध्ययन के चेहरे को बदल दिया है। इसलिए तुलनात्मक साहित्य के साथ अनुवाद-अध्ययन को प्रमुख सहयोगी ज्ञानानुशासन के बतौर देखा जाना चाहिए।

ज्ञान प्रताप मिहिर प्रकासी

महेश दुबे*

‘आँख खुली तो देखा (उसने)
वह विराट सौन्दर्य प्रकृति का
और उसी लय में मानो
मेला भरा लोक संस्कृति का’

रमेश चन्द्र शाह

‘न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः ।’

यजुर्वेद

(उसका यश सर्वत्र फैल हुआ है। उसकी प्रतिमा या उपमान नहीं हो सकता।)

गणित जीवन को आभा और सार्थकता से परिपूर्ण करता है। एक उज्ज्वल और निष्कलंक गणितीय कार्य का महात्म्य शाश्वत और सनातन होता है। समय की धूल उसे मैला नहीं कर पाती। वराहमिहिर का गणित और ज्योतिष दोनों ही उज्ज्वलता की चमक से दीप्त हैं। उनके कार्य में ईश्वर या परम्पराएँ नहीं, अपितु एक बहुविज्ञ गणितज्ञ बोलता है। उन्होंने परम्परा से प्राप्त ज्ञान का सृजनात्मक परिष्करण किया, लोक-जीवन के मूल्यों को ज्ञान की आभा से प्रदीप्त कर उन्हें अपनी कृतियों में प्रतिष्ठित किया और उदारता के साथ दूसरों के ऋण को स्वीकार किया

सारस्वतेन मुनिना दृकार्गल यत् कृतं तदबलोकय ।
आर्याभि कृतमेतद वृत्तरपि मानवं वक्ष्ये ।।

बृहत्संहिता

* प्रो. महेश दुबे, 1102, साई-अंश, प्लॉट न. 7, सेक्टर-11, सानपाडा, नवी मुम्बई 400705 (महाराष्ट्र)

(अभी तक मैंने आर्या छन्द में लिखा है, वह सारस्वत मुनि रचित दृकार्गल को देख कर लिखा है। अब मैं मनु के कहे दृकार्गल को देख कर उसे छन्दों में लिख रहा हूँ।)

जहाँ वे फलित ज्योतिष का (बृहज्जातक और विवाहपटल में) गुणानुवाद करते दिखाई देते हैं, वहीं वे सिद्धान्तों की (पंच सिद्धान्तिका में) व्याख्या भी करते हैं और (बृहत्संहिता में) अपने ज्ञान की विश्वकोशीय प्रस्तुति से हमें विस्मय से भर देते हैं। गणित और ज्योतिष की उनकी रचनाओं में सौरमण्डल से भरा आकाश सजीव और चित्रांकित है।

उन्होंने परम्परा से प्रचलित सिद्धान्तों की बड़ी जतन से सुसंगत और सटीक व्याख्या की। लोक परम्पराओं में सुरक्षित मान्यताओं को और पूर्वजों की विरासत को अपने ग्रन्थों में काव्यात्मकता के साथ सुगठित किया। उनकी प्रस्तुति में एक सजग गणितज्ञ का कालबोध हमसे संवाद करता है। एक प्रकार से वे हमारे और ज्योतिष के एक अद्भुत और विलक्षण पुरातत्त्ववेत्ता कहे जा सकते हैं।

लौह-स्तम्भ के रूप में उनकी कीर्ति आज भी अक्षुण्य और सुरक्षित है। आज की मेहरौली (दिल्ली) यथार्थ में गुप्तकालीन 'मिहरावली' या 'मिहरालय' का बिगड़ा हुआ नाम है। देश के लाखों शिवमंदिरों में शिवलिंग के ऊपर टँगा 'जलकुम्भ' वास्तव में उनके द्वारा परिष्कृत और अभिकल्पित समय-मापक-जलयन्त्र ही है। उनके बारे में हमारी जानकारी के स्रोत बहुत ही कम हैं और उन्होंने स्वयं भी अपने बारे में कोई ज्यादा उल्लेख नहीं किया है। पर भारतीय समाज में उनकी स्मृति कई रूपों में शताब्दियों से रची-बसी है जो सुदूर गौड़ प्रदेश की लोक-गाथाओं में गाई जाती है, तो उत्तर में कल्हण की राजतरंगिणी में सुरक्षित है। जन मानस में वे आज भी महाराजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक हैं।

सुविज्ञ गणितज्ञ एवम् ज्योतिर्विद होने के साथ-साथ वराहमिहिर एक निष्णात आयुर्वेदाचार्य, रसायनज्ञ और वास्तुविशेषज्ञ भी थे। अपनी विशद और व्यवस्थित विवेचनाओं के कारण उन्हें भारत में जल-विज्ञान का आदि प्रणेता भी कहा जा सकता है। भूजल पर बृहत्संहिता में एक पूरा अध्याय है 'दृकार्गल' शीर्षक से, जिसमें 125 श्लोक हैं। उल्लेखनीय यह है कि वराहमिहिर की पूर्ववर्ती कृति 'कृषि पाराशर' (ईसा-पूर्व 100100 ईसवी) में भूजल सम्बन्धी उल्लेख नहीं है। 'काशपीय कृषि-सूक्ति' (700800ए.डी.) में जल भण्डारण संरचनाओं (construction of water reservoirs) की चर्चा तो है पर यह कृति भूजल के बारे में मौन है। हाँ, सुरपाल के 'वृक्षायुर्वेद' (1000 ईसवी) के 19 श्लोक भूजल पर केन्द्रित हैं जिसमें बृहत्संहिता को ही दोहराया गया है। बहुत से श्लोक तो वैसे के वैसे ही बृहत्संहिता से ले लिए गए हैं। उदाहरण के लिए

अर्धपुरुषे च मत्स्यः पारावतयन्निभश्च पाषाणः
मृद्भवति चात्र नीला दीर्घ कालं च बहु तोयम

बृहत्संहिता: 54-10

वृक्षायुर्वेद: 305

13वीं शताब्दी की कृति 'शारंगधर पद्धति' के एक अध्याय उपवनविनोद के 53 श्लोक भूजल पर हैं, जिसमें से अनेक बृहत्संहिता से ले लिए गए हैं। यह, वराहमिहिर की विद्वत्ता की व्यापक और प्रामाणिक स्वीकृति को दर्शाता है। वे ऋतु विज्ञान के मर्मज्ञ ज्ञाता, भूगोल के विद्वान होने के साथ-साथ उच्चकोटि के मनोवैज्ञानिक और नीतिशास्त्री भी थे। उनके शकुन शास्त्रीय निष्कर्ष परवर्ती साहित्यिक रचनाओं में मुखरित हुए हैं और लोकोक्तियों में ज्यों के त्यों गाए गए हैं। वे एक अद्भुत छन्दिक भी थे। बृहत्संहिता और बृहज्जातक में उन्होंने संस्कृत और प्राकृत के अनेक छन्दों का प्रयोग किया है। बृहत्संहिता के 'ग्रह गोचराध्याय' में 64 पदों के माध्यम से उन्होंने 60 विभिन्न छन्दों में ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी प्रस्तुत की है। इस अध्याय में उन्होंने आर्या, शार्दूल विक्रीडित, सुवृत्ता, शिखरिणी, मन्दाकान्ता, मालती, सुपुष्पिताग्र, इन्द्रवज्रा जैसे अनेक छन्दों में रचना की है। उनके व्यक्तित्व के ये विविध आयाम और ज्ञान-विज्ञान की यह वैश्विक बहुविज्ञता हमें चमत्कृत करती है। निस्सन्देह वे हमारी ऋषि परम्परा में भारतीय मनीषा के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं।

षड्-वेदांग के रूप में निम्न 6 विद्याओं का उल्लेख भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता रहा है

शिक्षा	phonetics
व्याकरण	grammar
छन्द	metrics
निरुक्त	etymology
ज्योतिष	astronomy
कल्प	ritual

प्राचीन भारत में ज्योतिष के अध्ययन का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक था और सामान्यतयागणित, सैद्धान्तिक ज्योतिष तथा फलित ज्योतिषसभी का समावेश इसके अन्तर्गत होता रहा है। इसकी लोकप्रियता आयुर्वेद और मन्त्रशास्त्र के समकक्ष ही रही है। इसके महत्त्व को निरूपित करते हुए कहा भी गया है

वेदा हि यज्ञार्थमभि प्रवृत्राः
कालानुपूर्वा विहिताश्च यज्ञाः
तस्मादिदं काल विद्यान शास्त्रं
यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञान

(The Vedas are revealed for the purpose of performing sacrificial rites, these rites are laid down in order of time. Therefore he who is versed in Astronomy - the science of reckoning time, knows the sacrifices)

शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है

ज्योतिर्ज्ञानं तु यो वेद स याति परमां गति

अर्थात् जो ज्योतिष जानता है वह परम गति को प्राप्त होता है। ज्योतिष की तीन शाखाएँ हैं इसलिए इसे त्रिस्कन्धीय कहा गया है

'सिद्धान्त-संहिता-होरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्'

नारदीय संहिता

ये शाखाएँ सिद्धान्त, संहिता और होरा के नाम से जानी जाती हैं।

सिद्धान्त (गणित) के अंतर्गत ग्रहों की गति और उनकी परस्पर स्थितियों की चर्चा की जाती है।

संहिता (शाखा) सामूहिक एवम् व्यापक रूप से फलित ज्योतिष के अध्ययन को कहा जाता है।

होरा (जातक) से तात्पर्य व्यक्तिगत कुंडलियों के अध्ययन तथा शुभ-अशुभ के विचार से है।

भारतीय ज्योतिष के इतिहास में वराहमिहिर एक अत्यन्त प्रतिष्ठित नाम है। भारत के ज्योतिषविदों में उनका स्थान सर्वोपरि है। वे एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने ज्योतिष की तीनों विधाओं में साधिकार लिखा है और उन्हें समृद्ध किया है

सिद्धान्त	पंचसिद्धान्तिका
संहिता	बृहत्संहिता
होरा	बृहज्जातक

भटोटपल (वराहमिहिर के टीकाकार) ने उन्हें सूर्य का अवतार कहा है। भास्कर ने भी वराहमिहिर का उल्लेख आदरपूर्वक किया है। 'भास्वतीकरण' के लेखक शतानन्द (11वीं शताब्दी) ने वराहमिहिर के कार्यों को अत्यन्त प्रतिष्ठित सूर्य सिद्धान्त के समकक्ष माना है

'अथ प्रवक्ष्ये मिहिरोपदेशात्सूर्यसिद्धान्त समं समासात्'

अल बरूनी ने भी मुक्तकंठ से वराहमिहिर की प्रशंसा की है और बृहज्जातक का अरबी अनुवाद भी किया था फलस्वरूप वराहमिहिर के ज्ञान का प्रकाश सुदूर अरब और यूनान देशों तक फैल गया था। गणित के सुप्रसिद्ध विद्वान एवं इतिहासज्ञ

Vander Waerden ने अपने ग्रन्थ Science Awakening में वराहमिहिर के कार्यों को 'much more instructive' कहा है। उनकी प्रसिद्धि के कारण ही उनके सम्बन्ध में बहुत से 'मिथ' प्रचलित हैं। उन्हें विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक माना जाता है। इस सम्बन्ध में 'ज्योतिर्विदाभरण' का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है

*धन्वन्तरि क्षपणकामरसिंहं शंकु वेतालभट्टघटखपर कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्स भायां रत्नानि वै वररुचिर्न विक्रमास्य ॥*

यहाँ 'विख्यात' विशेषण के साथ वराहमिहिर का उल्लेख उनकी प्रतिष्ठा का सूचक है। माना जाता है कि यह श्लोक कालिदास की रचना है। परन्तु काल निर्धारण की ऐतिहासिक प्रक्रिया के सन्दर्भ में विक्रमादित्य-वराहमिहिर-कालिदास का समकालीन होना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता और 'ज्योतिर्विदाभरण' भी निर्विवाद रूप से कालिदास की कृति नहीं मानी जाती। वैसे भी 'विक्रमादित्य' (सूर्य के समान पराक्रमी) एक उपाधि थी, जो अनेक सम्राटों द्वारा धारण की गई थी। इसलिए इतिहास में एक से अधिक विक्रमादित्यों का उल्लेख पाया जाता है। यह भी सम्भव है कि वराहमिहिर नाम के विद्वान भी अनेक हुए हों। इतिहासकार ए.के. मजूमदार ने अपनी पुस्तक Hindu History (1950) में वराहमिहिरों का उल्लेख किया है।

जैन ग्रन्थोंप्रबन्ध चिन्तामणि तथा पर्युषण कल्पसूत्र और भविष्यपुराण में वराहमिहिर का उल्लेख, उन्हें महिमामंडित करती हुई अनेक गाथाओं के साथ विस्तार से किया गया है। जैन-साहित्य में उन्हें जैन-धर्मावलम्बी और आचार्य भद्रबाहु का भाई माना गया है। संघतिलक सूरि की गाथा में कहा गया है

*'तथ्य चउदस विज्जाठाणा पारगो छक्कम
मम्मविउ पयईए भद्दओ भद्दबाहु नाम माहणो
हुत्था । तत्सय परम पिम्म सयसीरुह मिहरो
वराहमिहिरो नाम सहोयरो ।'*

पर ऐतिहासिक प्रमाणों के अभाव में इसे दन्तकथा ही कहा जाएगा। अनेक गाथाओं में वराहमिहिर की यूनानी प्रेयसी खाना या खोना का नाम भी आता है। बंगाल में प्रचलित लोक गाथाओं के अनुसार खोना का विवाह, वराह के पुत्र मिहिर के साथ हुआ था। कलकत्ता से लगभग 40 किमी. दूरी पर खोन-मिहिर का टीला है। यहाँ अभी खुदाई नहीं हुई है। कौन जाने इस टीले के गर्भ में कोई वेधशाला दबी पड़ी हो? Nothing is Blue (Harper Collins-2009) नामक अपने उपन्यास में विमान नाथ ने इस मिथ का औपन्यासिक उपयोग करते हुए, वराहमिहिर का उल्लेख किया है। गणित के विद्वान प्राध्यापक डॉ. घनश्याम पाण्डेय ने 'वरः मिहिर' (भारतीय ज्ञानपीठ2010) नाम से एक रोचक और शोधपरक उपन्यास की रचना की है। 315 पृष्ठों में फैले हुए इस उपन्यास में वराहमिहिर पृष्ठ 267 पर प्रवेश करते हैंअर्थात्

उपन्यास के मात्र 48 पृष्ठ उन पर हैं। पर ये बड़े सारगर्भित पृष्ठ हैं। शेष पृष्ठ उनके पिता और पितामह पर केन्द्रित हैं। ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ घटनाओं का सामंजस्य बिठाते हुए यह उपन्यास उस काल की भाषा के उपयोग और मानवीय संवेदनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय कहा जा सकता है। डॉ. पाण्डेय के अनुसार वराहमिहिर शक मूल के थे, और उनका समय सम्राट बुधगुप्त, नरसिंह गुप्त और मन्दसौर के राजा यशोधर्मन के समय का रहा है। उपन्यास में वराहमिहिर की वंश-परम्परा का उल्लेख हुआ है, जो निम्नानुसार है

भास्कर दत्त



मिहिर दत्त



आदित्य दास



वराहमिहिर



पृथुयश

(डॉ. पाण्डेय उनका नाम वरःमिहिर स्वीकार करते हैं जो कालान्तर में वराहमिहिर हो गया। यहाँ वरः का अर्थ श्रेष्ठ के रूप में लिया गया है अर्थात् जिन्हें सूर्य का श्रेष्ठ वरदान मिला)

वराहमिहिर ने स्वयं अपने बारे में बहुत कम जानकारी दी है। पर उनकी रचनाओं में प्रायः प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सन्दर्भों से हम कई निष्कर्ष प्राप्त कर उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के साथ उन्हें जोड़कर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के पाठ की पुनर्रचना कर सकते हैं।

बृहज्जातक और बृहत्संहिता में दिए गए सन्दर्भ और संकेतों के आधार पर हम निम्न ग्रन्थों को वराहमिहिर की प्रामाणिक रचनाएँ मान सकते हैं

पंच सिद्धान्तिका

बृहज्जातक

विवाहपटल

योग यात्रा और

बृहत्संहिता

पंच सिद्धान्तिका उनकी प्रथम कृति है और बृहत्संहिता उनकी प्रौढ़ और अन्तिम रचना है। दृष्टव्य है कि वराहमिहिर ने कहीं भी अपने ग्रन्थ को पंच सिद्धान्तिका नहीं कहा है उसे क रण ग्रन्थ कह कर उसका उल्लेख किया है। भटोटपल ने इसे 'पंच सिद्धान्तिका' नाम दिया और तबसे यही नाम प्रचलित हो गया।

वराहमिहिर का समय

यह सत्य है कि हमें वराहमिहिर के जन्म और निधन की तिथियों के बारे में कोई ठोस जानकारी नहीं है और न ही इन्हें जानने का कोई साधन हमारे पास है। परन्तु, हम उनके समय के बारे में पर्याप्त सकारात्मक रूप से कह सकते हैं कि वे 6ठी शताब्दी में हुए थे।

वराहमिहिर ने 'पंच सिद्धान्तिका' में आर्यभट्ट का उल्लेख करते हुए लिखा है

लंकार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्ति जगादचार्यभट्टः ।

भूयः स एव सूर्योदयात्प्रभृत्याह लंकायाम ॥

(आर्यभट्ट का यह कथन कि एक दिन का आरम्भ लंका समय के अर्धरात्रि से होता है, सत्य नहीं है। दिन का आरम्भ लंका सूर्योदय से होता है।)

आर्यभट्ट (जन्म 476 ई.) ने आर्यभटीय की रचना-499 ई. में की थी। स्पष्ट है कि 'पंच सिद्धान्तिका' उसके बाद की रचना है। 'पंच सिद्धान्तिका' में ही 505 ई. का उल्लेख है

सप्ताश्विवेदसंख्यं

शककालमपास्य चेन्नशुक्ला दौ ।

अर्धास्तमिते भानौ

यवनपुरे सोम दिवसार्धे ॥

अब अनेक विद्वान् इसे ही 'पंच सिद्धान्तिका' की रचना का वर्ष स्वीकार करने लगे हैं। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वे 427 शके (505 ई.) में सक्रिय थे। वराहमिहिर को आर्यभट्ट के कार्यों की और ब्रह्मगुप्त (जन्म 598 ई.) को वराहमिहिर के कार्यों की जानकारी थी। अतः वराहमिहिर का समय 6वीं शताब्दी माना जा सकता है।

वराहमिहिर की मृत्यु के सम्बन्ध में निम्न श्लोक प्रचलित हैं

'नवाधिक पंचशत संख्यं शाके वराहमिहिराचार्यो दिवंगतः ।'

(वराहमिहिर का निधन शके 509 अर्थात् 587 ई. में हुआ।)

यह श्लोक ब्रह्मगुप्त के टीकाकार आमराज का है। अल बरूनी (973-1048 ई.) ने भी लिखा है कि वराहमिहिर की 'पंच सिद्धान्तिका' उसके 526 वर्ष पूर्व लिखी गई थी। इससे भी उपरोक्त कालनिर्धारण की पुष्टि होती है।

स्थान-कुल-परिवेश

'बृहज्जातक' के अंत में वराहमिहिर ने लिखा है

आदित्यदास तनयस्तदवाप्त बोधः

कापित्थके सवितुलब्धवरप्रसादः ।

आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्
घोरा वराहमिहिरो रुचिरां चकार ।।

इससे ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम आदित्यदास था और वे ही इनके गुरु भी थे। कापित्थक गाँव में उन्हें सूर्य का वर प्रसाद मिला और इन्होंने अवन्ती में अध्ययन किया।

पंचसिद्धान्तिका में भी वराहमिहिर ने अपने अवन्तीवासी होने का उल्लेख किया है।

आवन्त्यकः समासा
च्छिष्य हितार्थे तव स्फुटांक समय
चक्रे वराहमिहिर

कापित्थक गाँव की पहचान कायथा से की जाती है, जो उज्जैन (अवन्तिका) से लगभग 20 किमी. दूर मक्सी-तराना मार्ग पर छोटी सिन्ध नदी के किनारे बसा हुआ है। गाँव में कैथ (कापित्थ) के वृक्षों की बहुलता से इसका यह नाम पड़ा होगा। कायथा कापित्थ का ही बिगड़ा हुआ स्वरूप है। अब यह गाँव कापित्थनगरी के नाम से भी जाना जाने लगा है। यहाँ खुदाई में शिरस्त्राण, कटिबन्ध और पदत्राण युक्त सूर्य की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो शक शैली की है। इससे यह धारणा और पुष्ट होती है कि वराहमिहिर शक मूल के थे और सूर्योपासक थे। कालिदास ने 'मेघदूत' में इस नदी के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन किया है जिसका कुछ अंश आज भी देखा जा सकता है। 'बृहत्संहिता' के प्रारम्भ में 'जयति जगतः प्रसूतिर्विश्वात्मा' जैसे विशेषण के साथ वराहमिहिर भगवान सूर्य का स्मरण करते हुए लिखते हैं

द्रुत कनकसदृशदशशतमयूखमालार्चितः सविता

'बृहज्जातक' के प्रारम्भ में भी वराहमिहिर अपने आराध्य देव सूर्य की 'त्रैलोक्य दीपो रविः' कहकर वन्दना करते हैं। भटोटपल ने इन्हें 'मागधद्विज' माना है। मोनियर विलियम्स ने 'मग' का अर्थ 'सूर्य के उपासक' किया है। भविष्यपुराण में लिखा है

मगं ध्यायन्ति ये तस्मात्तेन ते मगधः स्मृताः

(जो सूर्य की उपासना करते हैं वे मागध हैं)

सूर्य के उपासक होने से 'मिहिर' पद इनके नाम से जुड़ गया और बन गया वराहमिहिर। वैसे मिहिर का अर्थ बादल, चन्द्रमा, वायु और वृद्धपुरुष भी होता है, पर यह शब्द अपने सूर्य के अर्थ में अधिक प्रचलित और स्वीकार्य रहा है।

पश्चिम भारत में राजस्थान में जहाँ शक द्वीपी ब्राह्मण बस्तियाँ थीं वहाँ सूर्य मन्दिर के उल्लेख पाए जाते हैं। मन्दसौर के शिलालेख से कुमारगुप्त के समय 436 ई. में बुनकर व्यवसायियों द्वारा एक सूर्य मन्दिर बनाए जाने की जानकारी मिलती है।

ग्वालियर से प्राप्त एक शिलालेख में मिहिरकुल के शासन के 15वें वर्ष में एक सूर्य-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। काश्मीर का मार्तण्ड मन्दिर भी लगभग इसी समय का माना जाता है। शकद्वीपी ब्राह्मणों ने सूर्य उपासना की परम्परा को प्रभावित किया और इसका प्रभाव सूर्य प्रतिमाओं पर भी पड़ा। शक शैली में निर्मित इन प्रतिमाओं के साथ परम्परागत रथ और अश्व नहीं हैं। मूर्तियाँ शिरस्त्राण और पदत्राण से अलंकृत हैं। ऐसा माना जाता है कि ज्योतिष का विशद ज्ञान, वराहमिहिर को सूर्य की कृपा से ही मिला था। गुप्त काल में ही विष्णु के दशावतारों में वराह को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई

वसति दशन शिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलंक कलेव निमग्ना
केशव धृत शूकर रूप जय जगदीश हरे।

गीत गोविन्द

वराह पुराण के दस सहस्र श्लोकों में वराह अवतार की कथा लिखी गई। इसके दो संस्करण मिलते हैं। एक गौडीय और दूसरा दक्षिणात्य। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वराह पूजन का विस्तार गौड प्रदेश और दक्षिण भारत तक था। चालुक्य राजाओं का प्रतीक चिह्न भी वराह ही था। माघ शुक्ल द्वादशी को वराह द्वादशी के व्रत और अनुष्ठान की एक लम्बी परम्परा हमारे समाज में रही है। ऐरण में तोरमान के समय की वराहमूर्ति प्राप्त हुई है। बुधगुप्त के समय में हिमालय-प्रदेश में वराह मन्दिरों का उल्लेख मिलता है। यहीं कौशिकी और कोका नदियों के निकटवर्ती प्रदेश को वराह क्षेत्र भी कहा जाता है। प्राकृत की सुप्रसिद्ध रचना 'गुडडवहो' में कवि (वाक्पति) प्रारम्भ में ब्रह्म का स्मरण करते हुए विष्णु के अवतारों को नमन करता है और वराह अवतार की प्रशस्ति में कहता है

दादा महावराहस्स वअणमग्गेण
णिग्गआ जअई ।।
उअर-डिअ-णाही-कमल-कंद-मूलाहि
व मुणाली ।।

तं णमह जो वराहत्तणम्मि फण-मणि-घडंत-पडिबिंबो ।
सेस-डिअ पि वसुहं वहइ व्व पहाव संकेतो ।।
हड-डिअं-सूर-णिवारणाअ छत्तं अहो इव बहंती ।
जअइ ससेसा वाराह-सास-दूरुक्खआ पुहबी ।।

ये उल्लेख समाज में वराह अवतार की व्यापक प्रतिष्ठा और स्वीकृति के द्योतक हैं। भारत में अवतारों पर नाम रखने की भी परम्परा रही है। शायद इसीलिए

इस महान ज्योतिषविद् का नाम वराह रखा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है। वैसे इनके वराह नामकरण को लेकर अनेक गाथाएँ प्रचलित हैं, जो वराहमिहिर के उत्कृष्ट ज्योतिष ज्ञान का गुणगान करती हैं।

इस समय तक (6वीं शताब्दी में) शक्तिशाली और महान गुप्त साम्राज्य का प्रभाव शिथिल हो चला था। मालवा पर हूणों तथा वाकाटकों के आक्रमण हो रहे थे। हूण राजा तोरमान तथा उसके पुत्र मिहिरकुल ने कश्मीर, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, तथा पश्चिमी भारत के विस्तृत भागों पर अपना अधिकार कर लिया था। इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि हूण प्रभाव ग्वालियर और सागर के ऐरण तक फैला हुआ था। *कथा-सरित्सागर* में हूणों पर स्कन्दगुप्त की विजय का सांकेतिक उल्लेख है। बुधगुप्त 477 ई. में सिंहासन पर थे और उसने लगभग 20 वर्षों तक राज्य किया। राजतरंगिणी के अनुसार मिहिरकुल एक प्रतापी राजा था। मालवा के बाद, हूण प्रभाव कश्मीर और निकटवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। कल्हण ने राजतरंगिणी में मिहिरकुल के अत्याचारों का वर्णन किया है। यशोधर्मन को सक्रिय कीर्तिकाल 530 से 540 ई. तक का निश्चित किया गया है। राजनीतिक रूप से अस्त-व्यस्त और सैनिक-आक्रमण की गतिविधियों से भरपूरयही समय वराहमिहिर का भी था। ऐसे अस्थिर समय में वराहमिहिर की उपलब्धियोंनिश्चय ही भारतीय मस्तिष्क की प्रखरता की प्रतीक हैं। यह इस बात का भी सूचक है कि सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के मध्य भी मनुष्य की सांस्कृतिक जिजीविषा कभी भी शिथिल नहीं होती अपितु धैर्य और आध्यात्मिकता के साथ उत्तरोत्तर अपने आपको समृद्ध करती चलती है।

गुप्त काल भारत के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है। यह युग ज्ञान-विज्ञान की सभी विद्याओं में श्रेष्ठतम सृजनात्मक उपलब्धियों के लिए भी जाना जाता है। यह युग कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ जैसे कवियों, दंडी, सुबन्धु और बाण जैसे गद्यकारों, भामा जैसे अलंकार-शास्त्री, अमरसिंह जैसे कोशकार, गौडपाद, कुमारिल, प्रभाकर और दिग्नाग जैसे दार्शनिकों तथा आर्यभट और ब्रह्मगुप्त जैसे गणितज्ञों का भी समय था। गुप्त युग में ही पुराण लिखे गए। वल्लभी के राजा श्रीधर सेन के राज्याश्रित कवि भट्टि का *भट्टकाव्य* या *रावण वध* इसी युग की एक प्रसिद्ध रचना है। शतक लिखने की परम्परा भी इसी युग में बनी। भर्तृहरि के शृंगार, वैराग्य और नीति शतक के बाद अमरुक शतक की रचना हुई। बाण ने देवी शतक लिखा तो उनके समकालीन मयूर ने मयूर शतक की रचना की। *वाक्यपदीय* जैसी कालजयी कृति और गुणाद्वय की *बृहत्कथा* भी सम्भवतया इन्हीं वर्षों में लिखी गई थीं। अमरकोश के रचयिता अमर सिंह के समकालीन शाश्वत की कृति *अनेकार्थ समुच्चय* भी एक उल्लेखनीय रचना मानी जाती है। सृजनात्मक रूप से ऐसा समृद्ध युग था वराहमिहिर

का और उन्हें गुप्तकाल का सारा बौद्धिक ऐश्वर्य विरासत में मिला था जो उनकी रचनाओं में प्रस्फुटित, पुष्पित और पल्लवित हुआ।

वराहमिहिर के पुत्र पृथुयश भी ज्योतिष के मूर्धन्य विद्वान थे और उनका लिखा 'षट पंचशिका' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है।

वराहमिहिर : प्रतिभा, व्यक्तित्व और योगदान

'पंच सिद्धान्तिका' तरुण वराहमिहिर की रचना है। इसमें पाँच ज्योतिष सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इनमें से एक भी सिद्धान्त वराहमिहिर कृत नहीं है। ये पाँच सिद्धान्त निम्नानुसार हैं

सूर्य सिद्धान्त
रोमक सिद्धान्त
पौलिश सिद्धान्त
पितामह सिद्धान्त
वशिष्ठ सिद्धान्त

इन सिद्धान्तों के सम्बन्ध में वराहमिहिर का कथन है

पौलशति विस्फुटोऽसौ तस्या सन्नस्तु रोमक प्रोक्तः।
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषो दूर विभ्रष्टौ ॥

उनके अनुसार प्रथम तीन अंतिम दो सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक सटीक और युक्तिसंगत हैं। यथार्थ में पितामह और वशिष्ठ सिद्धान्त सरल रेखीय प्रविधियों पर आधारित हैं, जबकि शेष तीनों में प्रयुक्त त्रिकोणमितीय विधियाँ उन्हें अधिक सटीक बनाती हैं।

O. Neugebauer ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *A History of Ancient Mathematical Astronomy* (vol. 1) में लिखा है

"It is of great interest to see that at that time (i.e. 6 AD) there existed already the need for a historical survey of Hindu Astronomy, thus causing Varahamihir to explain in his *Panchsiddhantika* the systems followed by five different *siddhantas* among others the early version of *Surya Siddhanta*, a famous work which had come down to us only in a much later version."

पितामह सिद्धान्त वराहमिहिर को विदित यह सिद्धान्त ग्रीक ज्योतिष से अप्रभावित विशुद्ध भारतीय ज्योतिष का परिचय देता है। पितामह से तात्पर्य ब्रह्मा से है, जिन्हें पितामह के नाम से सम्बोधित किया जाता है। *विष्णु धर्मोत्तर पुराण* में इसका उल्लेख है। एक अन्य *ब्रह्मसिद्धान्त* का उल्लेख *शाकल्य संहिता* में पाया जाता है।

पितामह सिद्धान्त का मूल पाठ आज उपलब्ध नहीं है। वराहमिहिर सिद्धान्त का आधारभूत युग 5 सौर वर्षों का युग है, जिनमें प्रत्येक में 366 सौर दिवस होते हैं। युग का आरम्भ धनिष्ठा नक्षत्र के पहले बिन्दु पर सूर्य और चन्द्र की संयुक्ति से होता है। वर्ष को दो बराबर भागों उत्तरायण और दक्षिणायणमें बाँटा गया है। हर अयन में 183 दिन होते हैं। पितामह सिद्धान्त के अनुसार वर्ष में किसी दिन की लम्बाई

$$t = \frac{2}{61}(732 + x) - 12$$

$$= \frac{2}{61}x + 12$$

है। x का मान 0 से 183 के मध्य होता है।

$x = 0$ रखने पर वर्ष के सबसे छोटे दिन की लम्बाई 12 और $x = 183$ रखने पर वर्ष के सबसे बड़े दिन की लम्बाई 18 मुहूर्त प्राप्त होती है। इस प्रकार वर्ष के सबसे बड़े और सबसे छोटे दिन की लम्बाई का अनुपात 3:2 का है। यही अनुपात बेबीलोनिया में भी पाया जाता था। Neugebauer ने 400 ई. पूर्व की एक lunar table को उद्धृत किया है, जिसमें यही अनुपात दिया है। इसके पश्चात वे लिखते हैं

'That this rule is of ultimate Babylonian origin and was transmitted to India is an obvious conjecture'

सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के आदि प्रस्तोता के रूप में भारत-पाश्चात्य इतिहासकारों को स्वीकार नहीं है। यह एक दुखद पूर्वाग्रह है। जाहिर है कि वे इसका श्रेय भारत को नहीं देना चाहते।

वशिष्ठ सिद्धान्त यवनजातक में स्फुजिध्वज ने वशिष्ठ सिद्धान्त का उल्लेख किया है

मुनेर्वशिष्ठस्यं मतानुवृत्या (मुनि वशिष्ठ के मतानुसार) इससे ज्ञात होता है कि 269 ई. में भी यह सिद्धान्त प्रचलन में था। इसके अनुसार एक सौर वर्ष की लम्बाई 363.38 दिवसों की होती है। इसमें सूर्य, चन्द्र की स्थितियों की गणना करने के नियम, छाया की लम्बाई, देशान्तर और लग्न निकालने के नियम दिए गए हैं। शुक्र, बृहस्पति, शनि, मंगल और बुध की गतियों सम्बन्धी चर्चा भी की गई है।

पौलिश और रोमक सिद्धान्त विदेशी मूल के हैं।

सूर्य सिद्धान्त भारतीय ज्योतिष के इतिहास में सूर्य सिद्धान्त अत्यन्त प्रतिष्ठित माना जाता है। इसे 'देव वाणी' के रूप में भी स्वीकार किया गया है। आज उपलब्ध सूर्य सिद्धान्त, *पंच सिद्धान्तिका* में वर्णित सिद्धान्त से भिन्न है। अनुमान किया जाता है कि यह परिमार्जन 7वीं से 10वीं शताब्दी के मध्य हुआ है। इसमें पुराणों के अनुसार

ही समय का विभाजन किया गया है और कोणीय नाप तथा समय की इकाइयाँ दी गई हैं। ग्रहों की गति पर विस्तार से चर्चा की गई है। पृथ्वी की परिधि के सन्निकटन मान निकालने की विधि भी दर्शाई गई है। ज्या सारणियाँ दी गई हैं, ग्रहणों की विवेचना की गई है और ज्योतिष यंत्रों को बनाने की विधियों का वर्णन किया गया है।

पंच सिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने शब्दांकों के द्वारा संख्याओं को दर्शाया है

मुनि यम यम द्वियुक्ते
द्युगणे शून्य द्वि पंच यम भक्ते

यहाँ

मुनि	यम	यम	द्वि	संख्या
7	2	2	2	2227
शून्य	द्वि	पंच	यम	
0	2	5	2	2520

से आशय है।

पंच सिद्धान्तिका की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि इसमें संक्षेप में ज्योतिष यंत्रों की चर्चा करते हुए समय-मापक-जल-यंत्र बनाने की विधि का वर्णन किया गया है

कुम्भार्धाकारं ताम्रपात्रं कार्यं मूले छिद्रे ।
स्वच्छे तोये कुण्डे न्यस्तं तस्मिन् पूर्णं नाडी स्यात् ॥

(आधे घड़े के रूप में एक ताम्र पात्र के पेंदे में छेद कर शुद्ध जल से भरे बड़े बरतन में इसे रखने पर जब पानी से भर उठे-तब एक नाड़िका बीती रहेगी। पेंदे में छेद इतना छोटा होना चाहिए कि एक अहोरात्र (दिन-रात) में यह 60 बार डूबे।)

भारतीय परम्परा में ज्ञान और दान दोनों के लिए ही सुपात्र की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। गुरु-परीक्षा कर, योग्य शिष्य को ही ज्ञान देता है। कुपात्र के हाथ में ज्ञान का दुरुपयोग या दुर्गति न हो इसलिए यह सर्तकता आवश्यक थी। वराहमिहिर भी इसी आदर्श का अनुसरण करते हुए कहते हैं कि ज्योतिष यंत्रों को बनाए जाने की विधि केवल स्थिर बुद्धि शिष्यों को ही बताई जानी चाहिए

गुरु चपलाय दद्याः-च्छिष्यया येतान्य वाप्य
शिष्योऽपि ।

सभी सिद्धान्तों में युग का महत्त्व पाया जाता है और तिथियों का प्रयोग किया गया है। इन सिद्धान्तों के अध्ययन का अर्थ भारतीय ज्योतिष के क्रमिक विकास और सूर्य सिद्धांत तक उसकी यात्रा का परिचय है। पंच सिद्धान्तिका न होती तो ज्योतिष सम्बन्धी हमारा ज्ञान अधूरा रहता।

पंचसिद्धान्तिका मात्र एक समीक्षात्मक ग्रन्थ नहीं है। यह सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक परिचय है, जिसे वराहमिहिर ने अपनी मौलिक प्रस्तुति से महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उनकी प्रस्तुति में कोई पूर्वाग्रह नहीं है। उनकी बौद्धिक दृष्टि विद्यानुरागी और उदार है

*‘मूलेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक शास्त्रमिहं स्थितम्
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते’*

(मलेच्छ यवनों के पास ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान है तो वे भी ऋषि की तरह पूज्य हैं।)

कहा जाता है कि उन्होंने ईरान के सम्राट नौशेरवाँ (राज्यकाल 531-575 ई.) के आमन्त्रण को स्वीकार कर ईरान की यात्रा की थी और वहाँ जुन्दी-शायर नामक स्थान पर एक वैधशाला का निर्माण अपने मार्गदर्शन में करवाया था।

एक विश्वकोश की भाँति विविध विषयों के विस्तृत क्षेत्रों को समेटे ‘बृहत्संहिता’ में 106 अध्याय और लगभग 4000 श्लोक हैं। यह वराहमिहिर की विराट कल्पनाशीलता और अपार बौद्धिक ऊर्जा का सृजनात्मक अभिलेखन है। यद्यपि यह फलित ज्योतिष पर केन्द्रित रचना है, परन्तु इसमें ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं के बारे में उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण जानकारी दी गई है। इसमें ग्रहों की गति तथा मानव जीवन पर उनके प्रभावों के साथ-भूगोल, कृषि, बागवानी, रत्नों, वास्तुकला, स्थापत्य आदि विषयों की विस्तार से चर्चा की गई है। मन्दिरों, मकानों और मूर्तियों के निर्माण के शिल्प और सिद्धान्तों का विस्तृत विवरण दिया गया है। बृहत्संहिता में वराहमिहिर की सरस काव्य प्रतिभा का भी परिचय मिलता है। यह जाना जाता है कि इसकी रचना 572 ई. के आसपास की गई थी। बृहत्संहिता के शकुनाध्याय के आरम्भ में ही वराहमिहिर ने लिखा है

भारद्वाजमतं दृष्ट्वासच्च श्रीद्रव्यवर्धनः

आविन्तकः प्राह नृपो महाराजाधिराजकः

जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने यह अध्याय प्रतापी राजा द्रव्यवर्धन के कार्यों को देख कर लिखा है। द्रव्यवर्धन का राज्यकाल 540 ई. से 560 ई. तक का माना जाता है।

बृहत्संहिता वराहमिहिर की अन्तिम रचना है, इसलिए अपनी प्रस्तुति में यह एक परिपक्व कृति है। इसका विश्वकोशीय विस्तार हमें वराहमिहिर की प्रतिभा के कई आयामों से परिचित कराता है। ज्ञान-विज्ञान की शाखाओं के आन्तरविषयक सम्बन्धों की ओर भी यह हमारा ध्यान आकर्षित करती है जैसे कि एक ज्योतिषी को गणितज्ञ होने के साथ मनोवैज्ञानिक भी होना चाहिए, एक आयुर्वेदाचार्य को अच्छा ज्योतिषी

होना चाहिए और एक अच्छे ज्योतिषी को कवि होना चाहिए। बृहत्संहिता न केवल ज्ञान अर्जित करने के लिए अपितु उसमें प्रावीण्यता और श्रेष्ठता अर्जित करने के लिए हमें प्रेरित करती है। इसे पढ़ते हुए ऐसा लगता है मानो भारत की सांस्कृतिक सर्जनाओं का एक झरना निःसृत हो रहा है। निरन्तर, रस से परिपूर्ण, आत्मविश्वास से भरा हुआ, शुद्ध, सुसंगत और सुस्पष्ट। बृहत्संहिता में भारत के ज्ञान-विज्ञान का समूचा वैभव प्रतिबिम्बित होता है।

कैसा रहा होगा वराहमिहिर का व्यक्तित्व? सुन्दर, स्वस्थ, प्रभावी, आकर्षक और निश्चित ही कालजयी! ठीक वैसा ही, जैसा स्वयं उनके शब्दों में एक देवज्ञ को होना चाहिए

प्रियदर्शनो विनीतवेषः सत्यवागनसुयक्त्वतः

शुचिद्रक्षः प्रगल्भो वाग्मी,

प्रतिभानवान्, देशकालवित् सात्विकोपर्षद्भीरुः

प्रियदर्शी, विनम्र, सत्यवादी, देशकाल को जानने वाला, प्रतिभाशाली, पवित्र, सात्विक और निर्भीक।

उसे सब विद्याओं का ज्ञाता और ज्योतिष की तीनों शाखाओं में प्रवीण होना चाहिए। जैसा कि वराहमिहिर थे। इन गुणों के आधार पर उनकी आकृति और देहयष्टि की कल्पना की जा सकती है।

वराहमिहिर एक सहृदय, रसिक सुकवि थे। बृहत्संहिता की बिम्ब और अलंकार योजना तथा काव्य लालित्य विशेष रूप से हमारा ध्यान आकर्षित करता है। ध्रुव की परिक्रमा करते हुए सप्तर्षियों से सुसज्जित उत्तर दिशा, उनके कविमन को नृत्य करती-सी प्रतीत होती है

सैकालीव राजति ससितोत्पलमालिनी सहासेव ।

नाथवतीत च दिगयैः कौबेरी सप्ताभिर्मुनिभिः ॥

बृ. सं. 13-1

शरद ऋतु का वर्णन करते हुए वराहमिहिर का उल्लास देखते ही बनता है

इन्द्रीवरासन्न सितोत्पलान्विता शरद् भ्रमत्षटपदपङ्क्ति भूषिता ।

सभ्रूलताक्षेप कटाक्षवीक्षणा विदग्धयोपेव विभाति सस्मरा ॥

बृ. सं. 12-10

(भ्रमण करते हुए भ्रमरों की पङ्क्तियों से भूषित, नीलकमल के निकट श्वेत कमल से युत नदियों से शोभित शरद मानो भ्रूलता के साथ कटाक्ष करने वाली मदनानुरा स्त्री की भाँति शोभित है।)

वराहमिहिर अपनी शृंगारिक अभिव्यक्तियों में जिस सुकोमल सृष्टि का रूपक बाँधते हैं उसमें प्रफुल्लता की ऊर्जा है और आनन्द से भरी हुई जीवन दृष्टि है। जहाँ प्रेयसी से विहीन यह संसार भर्तृहरि जैसे कवियों के लिए 'तमोभूतमिदं जगत' है, वहीं वराहमिहिर प्रेयसी के प्रगाढ़ आलिंगन की तुलना में ब्रह्मलोक के सुख को भी हेय समझते हैं

कामिनी प्रथमयौवनान्वितां मन्दवल्गुमृदुपीडित स्वनाम ।

उत्तनी समवलम्ब्य या रतिः सा न धातृभवेऽस्ति ये मतिः ॥

बृ. सं. 74-18

एक कवि के रूप में कटाक्ष के साथ अपनी नम्रता का प्रदर्शन करने का कौशल भी उनके पास था

माण्डव्य गिरं श्रुत्वा न मदीया रोचतेऽथवा नैवम ।

साध्वी तथा न पुंसा प्रिया यथा स्याज्जवन चपला ॥

बृ. सं. 104-3

(जिन्होंने माण्डव्य ऋषि की वाणी सुनी है उनको मेरी वाणी अच्छी नहीं लगेगी क्योंकि साध्वी स्त्री पुरुषों को उस प्रकार प्रिय नहीं लगती जिस प्रकार जघन-चपला (वेश्या) होती है।)

वराहमिहिर पूर्वाग्रह से मुक्त, उदार और सत्य के प्रति समर्पित विद्यानुरागी विद्वान् थे। उनके मन में पूर्व के आचार्यों के प्रति श्रद्धाभाव था और वे अपने निष्कर्षों के प्रति आश्वस्त थे। आत्मश्लाघा से यथासम्भव बचते हुए, आत्मविश्वास से भरे हुए शब्दों में वे कहते हैं

ज्योतिःशास्त्रसमुद्रं प्रमथ्य मतिमन्दराद्रिणाऽथ मया ।

लोकस्यालोककरः शास्त्र शशांक समुत्क्षिप्तः ॥

बृ. सं. 106-1

(मैंने बुद्धिरूपी मन्दराचल के द्वारा ज्योतिष शास्त्ररूपी समुद्र का मन्थन कर संसार को प्रकाशित करने वाला शास्त्ररूपी चन्द्र निकाला है।)

उन्होंने कहीं भी अपने अग्रज विद्वत्तजनों के लिए अवज्ञा नहीं दर्शायी, बल्कि यही कहा है

पूर्वाचार्यग्रन्था नोत्सृष्टाः कुर्वतामयाशास्त्रम

(मैंने इस शास्त्र को बनाते हुए पूर्व के आचार्यों के आशयों की उपेक्षा नहीं की है।)

हाँ, वे यह अवश्य कहते हैं कि जो प्राचीन मुनियों द्वारा कहा गया है, वही सत्य है और जो मनुष्य द्वारा लिखा गया है, वह सत्य नहीं है। ऐसा मानना उचित नहीं है।

विवेकशील व्यक्ति को जो ठीक है उसी को ग्रहण करना चाहिए। कालिदास ने भी 'मालविकाग्निमित्र' में ऐसा ही कुछ कहा है।

वराहमिहिर एक अद्भुत उद्यानशास्त्री, विलक्षण वानस्पतिक और एक सचेत पर्यावरणविद् भी थे। अभिजात्य सौन्दर्यबोध से भरी उनकी जीवन शैली मेलोकपरम्पराओं और मान्यताओं के प्रति आग्रह, वृक्षों और पौधों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण के साथ पर्याप्त पर्यावरणीय चेतना भी थी। वे कहते हैं

*अरिष्टा शोकपुन्नाग शिरीषाः सप्रियंगव ।
मंगल्यापूर्वामारामे रोपणीया गृहेषु वा ॥*

वृ. सं. 55-3

(उद्यान और घर के निकट नीम, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगु के वृक्षों को लगाना चाहिए।)

ये वृक्ष कब और कैसे लगाए जाएँ और किस प्रकार इनकी रक्षा की जाए-इसकी भी चर्चा वराहमिहिर-वृक्षायुर्वेदाध्याय में करते हैं। वास्तुविद्याध्याय में वे संक्षेप में घर के निकट लगाए जाने और शुभ-अशुभ फल देने वाले वृक्षों, द्रुमों और लताओं की चर्चा करते हैं। सुरपाल ने अपने वृक्षायुर्वेद में इस पर कुछ विस्तार से लिखा है। वराहमिहिर ने चरक का अनुसरण (त्रिविधः खलुदेशः जांगल, आनूपः साधारणश्चेति) करते हुए भूमि का वर्गीकरण किया है जांगल अर्थात् शुष्क भूमि, आनूप अर्थात् पर्याप्त जल वाली और साधारण भूमि। बृहत्संहिता में उन्होंने कृषि, खाद, वर्षा आदि विषयों पर विस्तार से चर्चा की है। वे लिखते हैं

एते द्रुमा काण्डरोप्या गोमयेन प्रलेपिताः

वृ. सं. 54-5

(डाली काटकर लगाने का नाम काण्डरोपण है।)

उनके मतानुसार अशोक, कदली, जामुन, कटहल आदि वृक्षों की डालियाँ काटकर गोबर से लेपकर लगाना चाहिए।

भारतीय परम्पराओं में वृक्षों को भी देव माना जाता है और उनकी पूजा की जाती है। इसलिए वृक्षों को काटने के लिए सम्पूर्ण विधि-विधान का प्रयोजन है जिसमें काटे जाने वाले वृक्ष से क्षमायाचना करते हुए उस पर रहने वाले पक्षियों और प्राणियों से अन्यत्र जाने की प्रार्थना की जाती है और फिर 'मध्वाज्योदग्धेन कुठारेण' अर्थात् शहद और घृत से लेपित कुल्हाड़ी से वृक्ष को काटने का विधान वराहमिहिर ने वनसम्प्रवेशाध्याय के अंत में लिखा है। इसके लिए उनकी मुक्त कंठ से प्रशंसा की जानी चाहिए। यह आनुभूतिक जगत में उच्चतम मनवीय संवेदना का श्रेष्ठ और

अद्वितीय उदाहरण है। वृक्षों में भी जीवन है। उनके प्रति नरम तथा उदार दृष्टिकोण न केवल वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है अपितु मानवीय दृष्टि से भी उचित है। ऐसा सर्वोत्तम मानवीय गुणों से भूषित एक संवेदनशील वैज्ञानिक ही सोच सकता है।

संहिता के एक अध्याय 'केतुचार' में वराहमिहिर ने धूमकेतुओं का वर्गीकरण भी किया है। अध्याय के प्रारम्भ में वे कहते हैं

*गार्गीयं शिखिचारं पाराशरमसितदेवलकृतं च ।
अन्यांश्च बहून् दृष्ट्वा क्रियतेऽमान कुलश्चार ॥*

बृ. सं. 11-1

(गर्ग, पाराशर, असित, देवल और अन्य ऋषियों के वर्णनों के आधार पर मैं यह केतुचार लिख रहा हूँ।)

इससे भारत में वेधज्ञान की एक लम्बी परम्परा का परिचय हमें मिलता है।

वराहमिहिर ने संहिता में ग्रहण के कारणों की व्याख्या की है परन्तु इसके साथ ही उन्होंने प्रचलित राहु-केतु की मान्यताओं की भी विस्तार से चर्चा की है। अल-बरूनी इसी सन्दर्भ में लिखता है

... VarahaMihir has already revealed to us as a man who accurately knows the shape of the world. However he seems sometimes to side with the Brahmins, to whom he belonged and from whom he could not separate himself. Still he does not deserve to be blamed as on the whole his foot stands firmly on the basis of truth and he clearly speaks out the truth.

चमत्कारी वर्गों (Magic squares) का उल्लेख भारतीय चीनी और इस्लामी सभ्यता में इनके जादुई (ताबीजों) और चिकित्सकीय प्रभावों के सन्दर्भ से, प्राचीन काल से ही होता आया है। भारत में नवग्रहों की पूजा-अर्चना के लिए 9 कोष्ठक का वर्ग बनाए जाने के विधान का श्रेय ऋषि गर्ग को दिया जाता है। यहाँ आशय निम्न वर्ग से है

6	7	2
1	5	9
8	3	4

जिसमें पंक्तियों, स्तम्भों और कर्णों में अंकों का योग 15 आता है। इस वर्ग का उल्लेख प्राचीन चीनी ग्रन्थों और लोक कथाओं में भी पाया जाता है।

16 कोष्ठकों वाले 4x4 के चमत्कारी वर्ग का भारत में प्रथम उल्लेख वराहमिहिर की बृहत्संहिता में पाया जाता है। यह ऐतिहासिक रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बृहत्संहिता के 76वें अध्याय का शीर्षक है 'गंधयुक्ति' अर्थात् Combination of

perfumes. इसमें विभिन्न प्रकार के सुगन्धों को मिलाकर सर्वतोभद्र Good for All Purpose नामक गंध बनाने की विधि का वर्णन किया गया है। इसमें वर्णित अनुपातों को 16 कोष्ठकों में रखने पर हमें निम्न वर्ग प्राप्त होता है

2	3	5	8
5	8	2	3
4	1	7	6
7	6	4	1

जिसमें पंक्तियों, स्तम्भों और कर्णों में अंको का योग 18 आता है। भारत में ऐसे विशेष वर्ग का यह पहला प्रामाणिक उल्लेख है।

यद्यपि वराहमिहिर ने इस वर्ग की विशेषताओं की चर्चा नहीं की है, पर उनके टीकाकार भटोत्पल ने दर्शाया है कि

(अ) चारों कोनों पर की संख्याओं का योग 18 है

$$2 + 8 + 1 + 7 = 18$$

(ब) केन्द्र के लघुवर्ग

8	2
1	7

 की संख्याओं का योग 18 है।

(स) कोने के चारों वर्ग

<table border="1"><tr><td>2</td><td>3</td></tr><tr><td>5</td><td>8</td></tr></table>	2	3	5	8	<table border="1"><tr><td>5</td><td>8</td></tr><tr><td>2</td><td>3</td></tr></table>	5	8	2	3	<table border="1"><tr><td>4</td><td>1</td></tr><tr><td>7</td><td>6</td></tr></table>	4	1	7	6	<table border="1"><tr><td>7</td><td>6</td></tr><tr><td>4</td><td>1</td></tr></table>	7	6	4	1
2	3																		
5	8																		
5	8																		
2	3																		
4	1																		
7	6																		
7	6																		
4	1																		

में भी संख्याओं का योग 18 ही है।

वराहमिहिर ने अपने वर्ग को 'कच्छपुट' नाम दिया है

'षोडशके कच्छपुटे यथा तथा...'

'कच्छपुट' से आशय कछुए की पीठ से है। यह उल्लेख कई सन्दर्भों से सांकेतिक है। दूसरी शताब्दी की एक रचना, जो मुख्यतया जादू पर केन्द्रित है, का नाम 'कच्छपुट' है। इसमें 4x4 वर्गों का उल्लेख है। इसे बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की रचना माना जाता है। वराहमिहिर सम्भवतया इस रचना से परिचित रहे हों। चीन में प्रचलित एक लोककथा के अनुसार सग्राट यू को लो नदी के किनारे एक कछुआ दिखाजिसकी पीठ पर यह वर्ग अंकित था

6	7	2
1	5	9
8	3	4

यह संयोग प्राचीन काल के व्यापक सांस्कृतिक आदान-प्रदान और उसके व्यापक प्रभावों की ओर भी संकेत करता है।

वराहमिहिर के वर्ग से निम्न चमत्कारी वर्ग प्राप्त किया जा सकता है

8	11	14	1
13	2	7	12
3	16	9	6
10	5	4	15

जिसमें संख्याओं का योग 34 आता है। इस्लामी धार्मिक और चिकित्सीय ग्रन्थों में इस वर्ग का उल्लेख मिलता है। यंत्र या ताबीज के रूप में वर्गों के प्रयोग की परम्परा बहुत पुरानी है। *फिरदोस अल-हिकमा* (850 ई.) में अल-ताबरी ने ऐसे नुस्खों की चर्चा की है। भारत में चमत्कारी वर्गों का यंत्र के रूप में उल्लेख वृन्द (900 ई.) के सिद्धयोग में पाया जाता है। वृन्द ने गर्भवती महिलाओं को सुरक्षित और सुविधाजनक प्रसूति के लिए वर्ग

16	6	8
2	10	18
12	14	4

के उपयोग की चर्चा की है।

तुगलक वंश के फिरोजशाह तुगलक (राज्यकाल 1351 से 1388 ई.) ने अपने शाही इतिहासकार अब्दुल अजीज शम्स बहा नूरी से बृहत्संहिता का फारसी अनुवाद करवाया था। नूरी ने इसे 'किताब बाराही संहिता' का नाम दिया था। इस फारसी अनुवाद में संहिता के 80 अध्यायों का अनुवाद है। पुण्य स्नानम् और पट्टलक्षणम् जैसे हिन्दू धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्डों से सम्बन्धित अध्यायों को छोड़ दिया गया है। इसकी एक पांडुलिपि अलीगढ़ विश्वविद्यालय की मौलाना आजाद लाइब्रेरी में है। इस फारसी अनुवाद की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है।

वराहमिहिर का बृहज्जातक जातक का उपलब्ध सबसे प्राचीन पौरुषेय ग्रन्थ है। इसके 25 अध्यायों में कुंडलियों के बारे में वर्णन है। आज भी यह अपने क्षेत्र की प्रामाणिक कृति के रूप में उपयोग में आ रहा है। जातक में भी वराहमिहिर की सरस काव्य प्रतिभा देखने को मिलती है। स्वयं ग्रन्थकार ने इसे रुचिर कहा है। जातक में

माण्डव्य, पाराशर, गार्गी, बादरायण और याज्ञवल्क्य के वचन दिए गए हैं। इससे प्रतीत होता है कि वराहमिहिर के पूर्व भी बहुत से पौरुष ग्रन्थकार थे।

वराहमिहिर का जातक भारत और ग्रीक में ज्ञान-विज्ञान के आदान-प्रदान और सम्पर्कों की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। वराहमिहिर ने यवनाचार्य का उल्लेख किया है। स्फुजिध्वज का यवनजातक उपलब्ध है जिसे 269 ई. की रचना माना जाता है। वराहमिहिर ने 'यवन जातक' के अधिकांश योगों और युक्तियों का उल्लेख किया है। उन्होंने संस्कृत संज्ञाओं के साथ राशियों के लिए प्रयुक्त ग्रीक नामों का भी उपयोग किया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वराहमिहिर के बृहज्जातक पर ग्रीक प्रभाव था। यह प्रभाव भारत और ग्रीक के सम्पर्कों के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाना चाहिए। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि भारतीय ज्योतिष का उद्गम ग्रीक ज्योतिष है गलत होगा।

यद्यपि वराहमिहिर ने स्वतन्त्र रूप से गणित में कार्य नहीं किया है, परन्तु पंच सिद्धान्तिका, बृहज्जातक और बृहत्संहिता में उन्होंने गणितीय प्रविधियों का प्रायोज्य तकनीकों के रूप में कलात्मक उपयोग किया है। जहाँ पंच सिद्धान्तिका में उन्होंने ज्योतिष सम्बन्धी गणनाओं में बीजगणितीय प्रविधियों का उपयोग किया है, वहीं जातक और संहिता में उन्होंने क्रमचयों और संचयों के मान ज्ञात करने के लिए लोष्ठ प्रस्तार विधि विकसित की जो भारतीय गणित को उनकी मौलिक देन है। वे 9 द्रव्यों से 3 के विकल्प लेकर (विभिन्न अनुपातों में) कुल 84 सुगन्ध बनाए जाने का उल्लेख करते हैं। आधुनिक बीजगणितीय संकेतों में इसे 9C_3 लिखा जाता है, और

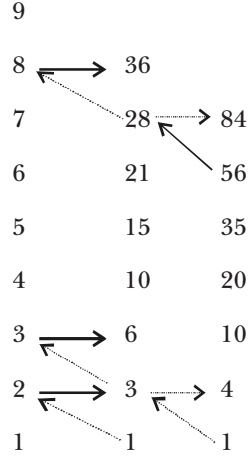
$${}^9C_3 = \frac{9 \times 8 \times 7}{3 \times 2 \times 1} = 84$$

वराहमिहिर कहते हैं

*पूर्वेण पूर्वेण गतेन युक्तं
स्थानं विनान्त्यं प्रवदन्ति संख्याम् ।
इच्छा विकल्पैः क्रमशोऽभिनीय
नीते निवृत्तिः पुनरन्य नीतिः ॥*

बृ.सं. 77-22

भटोटपल ने इसकी व्याख्या करते हुए लोष्ठ प्रस्तार विधि को स्पष्ट किया है, जो निम्नानुसार लिखी जा सकती है



बृहत्संहिता और बृहज्जातक दोनों ही अपने समय की सजीव रचनाएँ हैं। इनमें उस युग की सांस्कृतिक समृद्धि और सामाजिक सक्रियता प्रतिबिम्बित होती है। वराहमिहिर के समय का समाज समृद्ध और खुशहाल था। आमोद-प्रमोद का जीवन में विशेष महत्त्व था। समाज में विद्वानों, कवियों और ज्योतिषियों की प्रतिष्ठा थी। रत्नों एवं आभूषणों का प्रयोग सामान्य था। एक विशेष तथ्य की ओर बृहत्संहिता हमारा ध्यान आकर्षित करती है और वह हैदन्त सुरक्षा के प्रति जागरूकता। वराहमिहिर एक अध्याय के 9 श्लोकों में विविध प्रकार की शुभ दातूनों का वर्णन करते हैं और वर्जनीय दातूनों का भी उल्लेख करते हैं। इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस युग के समाज में व्यक्तिगत स्वच्छता (Personal hygiene) का कितना महत्त्व था। धम्मपद में कहा गया है

*हम वह हैं जो हम सोचते हैं
सब कुछ जो हम हैं हमारे सोचने से प्रगट होता है
अपने विचारों से हम संसार रचते हैं।*

वराहमिहिर ने भी अपने विचारों से जिस सृष्टि की रचना की है, वहाँ जीवन अपनी समग्रता के साथ उपस्थित हैं और जीवन तो शाश्वत प्रवाह है। इसीलिए वराहमिहिर कल भी प्रासंगिक थे, आज भी हैं और कल भी प्रासंगिक रहेंगे। ऐसे ही कालजयी व्यक्तित्वों के लिए भर्तृहरि ने कहा है

*ज्यन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥*

सन्दर्भ

1. वराहमिहिर पंच सिद्धान्तिका
बृहत्संहिता
बृहज्जातक
2. शंकर बालकृष्ण दीक्षितभारतीय ज्योतिष, हिन्दी समिति, उ. प्र.
3. डॉ. सत्य प्रकाशवैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद,
पटना, 1954
4. डॉ. राजबली पाण्डेयहिन्दू धर्म कोश, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, 1988
5. पं. ईशानारायण जोशीवराहमिहिर : जल जीवन है, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
2004
6. गुणाकर मुलेभास्कराचार्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
7. A.L. Bashan–The Wonder that was India, Grover Press, New York
1977
8. Radha Kumud Mookherjee–Ancient India, Indian Press
9. R.C. Majumdar (Ed.)–The History and Culture of the Indian people
: The Classical Age (Vol. 3), Bhartiya Vidya Bhawan. Bombay,
1988
10. Al-Biruni–India, National Book Trust, New Delhi
11. Surapala–Vrikshayurveda; English Tr. by Nalini Sadhale, Asian
Agri History Foundation, Secunderabad (AP), 1996
12. Kalhan–Rajatarangini, English Tr. by Ranjeet Pandit, Sahitya
Akademi, New Delhi.
13. Bose, Sen etc. (Ed)–A Concise History of Science in India, INSA,
New Delhi
14. O. Neugebauer–A History of Ancient Mathematical Astronomy
(Part I), Springer Verlag.
15. Takao Hayashi–A Preliminary Study in the History of Magic
Squares before the Seventeenth Century (Japanese) 1988
16. B. Rao–Indian Mathematics and Astronomy, Jnana Deep
Publications, Bangalore.
17. V. Raghavan (Ed.)–Scientists, Publications Division, Govt. of India
1976
18. G.S. Pandey–A Study in the Mathematical Contributions of
Varahmihira and His Heritage, Indian Institute of Advanced Study,
Shimla 2010.

साहित्यिक आलोचना - आभ्यन्तर का उद्घाटन

रमेश दवे*

यूरोपीय महान दार्शनिकों में से एक हैं आस्ट्रिया के विटगेन्सटाइन। यद्यपि उनके प्रणालीगत चिन्तन को उनके अनेक समकालीनों और पश्चात्कालीन दार्शनिकों ने नकारते हुए उन्हें महान मानने से इंकार किया है लेकिन विटगेन्सटाइन यह मानते थे कि दर्शन की समस्त समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी यदि हम भाषा के आभ्यन्तर को खोज लें। भाषा की आन्तरिक शक्ति की पहचान ही हमें चेतनामय और एन्द्रिय-संवेदी बनाती है। हम नहीं जानते हमारे मन में क्या चल रहा है, अभी हाल ही में क्या है और हम जब बाहरी विश्व से टकराएँगे, तब क्या होगा। भाषा तो हमारे एन्द्रिय संवेग की तरह है। उसका अपना आंतरिक होता है, आभ्यन्तर या रहस्य होता है। भाषा के इस रहस्य में ही चिन्तन और उसकी अभिव्यक्ति के तत्त्व निवास करते हैं। इसलिए चिन्तन या विचार तब तक रहस्य हैं जब तक वे भाषा में प्रकट नहीं होते। विचार आन्तरिक की अभिव्यक्ति ही तो है।

विटगेन्सटाइन के इन विचारों के साथ जब हम साहित्यिक आलोचना की ओर प्रवृत्त होते हैं तो भाषा के रहस्य, एक सर्जक अपनी कल्पना से, अपने चिन्तन से, अपनी प्रज्ञा से किस प्रकार अनावृत करता है यह हमें साहित्य में दिखाई देने लगता है। भाषा की तरह साहित्य का भी आभ्यन्तर होता है। एक आलोचक साहित्य के उस आभ्यन्तर में प्रवेश करता है, उसके रहस्यों, उसमें निहित शक्तियों की खोज करता है और जब वह सर्जक का मन साहित्य के जरिए पढ़ने लगता है तो उसके मन में सर्जक और सृजन से जुड़े अनेक प्रश्न खड़े होने लगते हैं। इसलिए आलोचना एक प्रकार से साहित्य से एक प्रश्नात्मक संवाद भी है। विटगेन्सटाइन इस प्रश्नात्मकता को 'यदि-विचार' या 'यदि-चिन्तन' मानता है। अर्थात् साहित्य में भी दर्शन का यदि-तत्त्व इसलिए महत्वपूर्ण है कि रचना अपना पूर्ण या अपूर्ण 'यदि-तत्त्व' के साथ चिन्तन आलोचक के पास जाती है और प्रश्न पैदा करती है।

*रमेश दवे, संपादक पूर्वग्रह, भारत भवन, भोपाल; संपर्क : एस.एच 19 ब्लॉक-8, सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म. प्र.); फोन : 0755-2777048, मो. 09406523071

साहित्यिक आलोचना किसके साथ चलती है? समय के साथ? स्थितियों या परिस्थितियों के साथ? विचार या विचारबद्धता के साथ? या सर्जक की रचनाशीलता के साथ? क्या आज भी काव्य-शास्त्र के भारतीय मानदण्ड प्रासंगिक हैं? क्या उन्हीं मानकों या मानदण्डों के साथ आई. ए. रिचर्ड्स, आरनोल्ड लीविस, ल्यूकाच के सन्दर्भ हिन्दी के अधुनातन साहित्य की परख के लिए उपयुक्त हैं? क्या लेवी स्ट्रोस का नृतत्वविज्ञान, डी-सेश्योर का संरचनावादी भाषा विज्ञान के प्रति अतियथार्थ के साथ सन्देह और यथार्थवाद के प्रति मोहमुक्ति हम अपने साहित्य की रचनाशीलता पर लागू कर सकते हैं? यदि रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. रामविलास शर्मा ने पुरातन का ही नूतन के साथ प्रयोग करके अपनी आलोचना का स्वभाव या प्रभाव रचा, तो क्या इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में आकर उन्हीं मूल्यों, मानदण्डों और मान्यताओं की निरन्तरता और स्वीकृति जायज है? क्या आलोचना केवल साहित्य चेतस होती है या समावेशी, जिसमें साहित्येतर धाराओं और कालगति एवं पारिस्थितिकी विज्ञान का भी हस्तक्षेप होता है, यह प्रश्न भी अब उठना या उठाना जाना चाहिए। ऐसा क्यों? इसलिए कि अब आलोचना केवल समयबद्ध, स्थानबद्ध, विचारबद्ध सीमाओं में रहकर सर्जन और सर्जक के प्रति नए सन्दर्भ के साथ न्याय नहीं कर सकती। उसे भूमण्डलीय होना होगा। विश्व साहित्य को हमें अपने मानदण्डों से, अपनी परम्परा से और अपने शास्त्र से चुनौती देनी होगी। पुराना या पारंपरिक कह कर आनंदवर्द्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट आदि को न काव्य शास्त्र से निरस्त किया जा सकता है न पाणिनी, पतंजलि कात्यायन को व्याकरण शास्त्र से। फिर भी इतना तो करना ही होगा कि उनमें नए सन्दर्भों नए साहित्य और नए विचारों को रखकर देखा जाए कि वे आज के लिए कितने उपयुक्त सिद्ध होते हैं।

विश्व-साहित्य में आलोचना ने नई प्रवृत्ति प्रदर्शित की है। 'पाठ' की अवधारणा, लैटिन अमेरिका के मैक्सिको से पैदा की गई स्त्री-साहित्य पुरुष-साहित्य की चिकानो-चिकाना आलोचना, रीडर-रिस्पान्स आलोचना, सेक्स आधारित आलोचना जैसे विषय यदि आलोचना का नया शास्त्र रच रहे हैं, मलार्मे, पॉल वेलेरी से आगे जाकर यदि मिलान कुन्देरा, इटालो कॉल्विनो आदि जर्मन, फ्रेंच, चैक या योरोपीय मान्यताओं को ध्वस्त करते हैं, या प्रगतिवादी फ्रेडरिक जेम्सन यथार्थ के नए अर्थ खोजते हुए वामपंथ या प्रगतिवादी आलोचना को निरस्त नहीं करता, तो ऐसे समय में किसी विचार विशेष के प्रति अपरिवर्तनीय जड़ पशु-संज्ञा में जीते हुए आलोचना करना, क्या साहित्य के प्रति प्रासंगिक दृष्टि है? ऐसा कोई इतिहास-समय नहीं रहा, जब साहित्य नहीं लिखा गया हो। ऐसा भी कोई समय नहीं रहा, जब बड़ी से बड़ी, यहाँ तक कि कालजयी कही जाने वाली रचना पर विवाद न हुआ हो, या वाचिक मत-मतान्तर न हुए हों। ऐसा भी कोई देश नहीं रहा, जहाँ साहित्य न रचा गया हो।

तात्पर्य यह कि साहित्य भले ही रचा गया हो लेकिन साहित्यिक आलोचना, वह भी लेखबद्ध आलोचना, समांतर रूप से नहीं लिखी गई। न ऐसा रामायण, महाभारत से लेकर भक्तिकाल या रीतिकाल में समांतर ढंग से हुआ, न उस योरप में जहाँ होमर, दांते जैसे कवि पैदा हुए। यहाँ तक कि वॉसर, स्पेन्सर, शेक्सपीयर तक की साहित्यिक आलोचना उनके काल में समांतर रूप से नहीं हुई। भारत में एक भरपूर काव्यशास्त्रीय विचार परम्परा रही, योरप में भी प्लेटो, अरस्तू, लांजयनस, होरेस आदि ने काव्यशास्त्रीय मानदण्ड दिए। लेकिन फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पूर्व वहाँ भी सार्थक और संदर्भित आलोचना नहीं लिखी गई। आलोचना में जो कुछ पश्चिम में घटा, उसका ढाई सौ, तीन सौ साल का अतीत है और भारत में तो साहित्यिक आलोचना तब प्रारम्भ हुई, जब हिन्दी महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रयास से अपने प्रारंभिक स्वरूप से मुक्त होकर एक सम्पूर्ण सर्जनात्मक भाषा के रूप में स्थापित हुई। इसके पूर्व काव्य की आलोचना काव्य में ही होती थीजैसे घनानंद ने कहा था “लोगन कवित्त करिबो खेल करि जानो है।” इसी प्रकार कबीर ने भाषा को लेकर कहा था “संस्कृत कबिरा कूप-जल, भाषा बहता नीर।”

पाँचवी-छठवीं शताब्दी में सूफी संत शाह मीरांजी पहला व्यक्ति था, जिसने कहा था कि अच्छे अच्छे तालीमयाफ़ता लोग अरबी जानते नहीं, फारसी को पहचानते नहीं, इसलिए उन तक अपनी बात हिन्दी में पहुँचानी होगी। एक और भी किस्सा मध्य एशिया का मिलता है। ईरान के बादशाह गस्तासूप ने शाह मीरांजी से बहुत पहले, अपने गुरु जरतस्त से शास्त्रार्थ करने के लिए भारत के हिन्दी-भाषी विद्वान ‘व्यास’ नामक ‘बिरहमन’ को आमंत्रित किया। फारसी में लिखा गया “यूँ व्यास हिन्दी वल्ल आमदा, गस्तासूप जरतस्त रख ख्वांदा” अर्थात् गस्तासूप ने हिन्दी यानी हिन्दुस्तान के हिन्दी बोलने वाले बिरहमन को बुलाया और व्यास ने अपना परिचय देते हुए कहा, “मन मरदे अम हिन्दी निजादा” मैं हिन्दी में जन्मा हिन्दी हूँ। यहाँ ‘हिन्दी’ शब्द हिन्दुस्तानी व्यक्ति के लिए है, न कि भाषा के लिए। इसी प्रकार अमीर खुसरो ने जब ‘हिन्दी-मुसलमान’ शब्द कहा, तो मतलब था, हिन्दुस्तान के मुसलमान, न कि हिन्दी बोलने वाले मुसलमान। इसी प्रकार एक उदाहरण यह भी मिलता है कि ईरान के बादशाह नौशेरवाँ ने जब ‘पंचतन्त्र’ का अनुवाद ‘कलीला दिमना’ नाम से करवाया तो संस्कृत में लिखे पंचतन्त्र की भाषा को ‘हिन्दी-संस्कृत’ अर्थात् ‘हिन्दुस्तान की संस्कृत’ भाषा कहा। अलबरूनी ने जब ‘अल हिंदय’ शब्द का उपयोग किया, तो भारतीय भाषाओं को सबसे पहले ‘हिन्दी’ कहा। इसका भी तात्पर्य यही है कि हिन्दी एक अकेली भाषा बनने के पहले सारी भारतीय-भाषाएँ ‘हिन्दी’ यानी हिन्द में बोली जाने वाली भाषाएँ थीं। जब हिन्दी अपने ‘भाखा’ या ‘भाषा’, ‘खड़ी बोली’, अपभ्रंश-प्राकृत स्वरूपों की जकड़न से मुक्त हो ही नहीं पाई थी, तो हिन्दी की साहित्यिक आलोचना

का भी जन्म कैसे होता? यही कारण था कि ब्रज, अवधी जैसी काव्य-सशक्त भाषाओं के जरिए ही काव्य रचा गया, लेकिन समांतर आलोचना तो उन भाषाओं में भी लेखबद्ध नहीं हो पाई जिसे आज की आलोचना का प्रारंभिक रूप कहा जा सके। इस दृष्टि से हिन्दी आलोचना का उद्गम केवल बीसवीं शताब्दी ही हुआ और साहित्यिक आलोचना बीसवीं सदी में अपने समकाल के रचना-संसार से प्रारम्भ न होकर अतीत के साथ ही शुरू हुई। भाषा को लेकर शाह मीरांजी, अमीर खुसरो, अलबरूनी ने जो विचार उस समय दिए, उनसे यह माना जा सकता है कि आलोचना का भाषाई रूप तैयार होने लगा था।

हिन्दी की प्रारम्भिक आलोचना, वह भी 'लिटररी क्रिटिसिज्म' जैसी न होकर, केवल भक्तिकाल और रीतिकाल के काव्य की गुण ग्राहकता ही थी और यदि आलोचना थी भी, तो वह संयोग शृंगार या रीतिकाल के मांसल सौंदर्य के विरुद्ध एक प्रकार की आचार संहिता के रूप में ही लिखी गई। रामचंद्र शुक्ल अध्ययन-पुष्ट, दृष्टि-सम्पन्न और विचारक, आलोचक के रूप में आए, तो तुलसी, जायसी, सूर के प्रति ही उन्मुख रहे, यहाँ तक कि कबीर या तत्कालीन अन्य संत कवियों, सूफी कवियों पर केन्द्रित उन्होंने आलोचना-सम्मत विचार प्रकट नहीं किए। नंद दुलारे वाजपेयी ने भी पहला काम तो सूरदास को लेकर ही किया, श्यामसुंदर दास ने सूरदास पर ही लिखा और कबीर-ग्रन्थावली का संपादन कर दिया। हजारी प्रसाद जी भी कबीर को ही अपना आलोच्य कवि बना पाए जबकि कबीर के बाद अगर चाहते तो भारतीय काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ होने के कारण और आधुनिकता के प्रति सचेत होने के कारण, वे समांतर और समकालीन सर्जन पर भी लिख सकते थे और कथासाहित्य में जिस उत्कर्ष तक वे गए, उसे तत्कालीन कथा साहित्य के साथ रखकर समूचे कथासाहित्य के भारतीय मानदण्ड और मूल्य गढ़ सकते थे। हजारी प्रसाद जी में कथा-आलोचना की व्यापक संभावना थी, लेकिन 'कबीर' लिखकर वे ललित निबंधों की ओर मुड़ गए, जिससे उनकी विवेचन-सामर्थ्य का लाभ हिन्दी को नहीं मिल पाया। हिन्दी साहित्य का इतिहास नई पहुँच के साथ उन्होंने लिखा तो अवश्य, लेकिन उसे साहित्यिक आलोचना नहीं कहा जा सकता।

शुक्ल जी के समय में ही छायावाद की आहट सुनाई देने लगी थी। शुक्ल जी उसे स्वीकारते या न स्वीकारते, लेकिन भक्तिकाल के ब्रज, अवधी और मैथिली साहित्य के बाद सर्वाधिक सशक्त काव्य आंदोलन के रूप में छायावाद आया। छायावाद ने प्रतीकों की नई रूमानी भाषा का अन्वेषण किया, रहस्यों की गगन-चुम्बी कल्पनाएँ कविता में उतारीं, लेकिन छायावाद को आलोचकीय स्वीकृति दिलाने का काम नंद दुलारे वाजपेयी ने ही किया। वे भक्तिकाल की भक्ति और रीतिकाल की आसक्ति से छायावाद में कविता की मुक्ति का नया स्वप्न देखने लगे और यही कारण

था कि नंद दुलारे वाजपेयी छायावाद के अधिकृत प्रथम आलोचक बने और छायावादी काव्यधारा में प्रसाद, निराला जैसे दो दिग्गजों को उन्होंने उनकी सर्जनात्मक मूर्धन्यता में न केवल स्थापित कर दिया, बल्कि रामविलास शर्मा जैसे प्रबुद्ध आलोचक अपने समूचे प्रगतिशील झुकाव के बावजूद निराला के आलोचक बन सके। इतना सब होने पर भी हिन्दी आलोचना की आधार-भूमि या तो भारतीय काव्य-शास्त्र रहा या पश्चिमी काव्यशास्त्र के साथ आधुनिक आलोचकों के द्वारा रचे गए मानदण्ड जिनमें आई.ए. रिचर्ड्स, रॉल फाक्स से लेकर अब इटालो केल्बिनो, ईगल्टन, अलथूसर, आर्तो आदि भी हमारे लिए सन्दर्भ की तरह आलोचना के मूल्य-निर्धारक बनने लगे हैं। ब्रेतां, पाल वेलेरी, मलार्मे के बाद कुछ नाम अगर लिए जाने लगे हैं तो वे हैं मिल्टन और हाब्स, याक देरिदा, मिशेल फूको, वाल्टर बेंजामिन, पियरे मेकेरे, मार्शल बर्मन, माइकल हेरी, ज्याँ ल्यौतार, एडवर्ड सर्ईद, सूजन साण्टेग आदि। अर्थात् आज भी हिन्दी आलोचना, पश्चिम के कंधों पर ही बैठकर अपनी साहित्य-मीमांसा करने में लगी हुई है और आधुनिकता के नाम पर जो पश्चिम की विदेश यात्राओं में छोटी मोटी संगोष्ठियाँ कर आते हैं, या पश्चिम का ही साहित्य पढ़-पढ़ कर हिन्दी साहित्य को धिक्कारते हुए हिन्दी साहित्य लिखते हैं, वे हिन्दी का नया आलोचना विचार कौन सा रच रहे हैं? केवल अपने लिखे हुए की पश्चिमी मानदण्डों से समीक्षा करवा लेना ही उनका आधुनिक और उत्तर-आधुनिक हो जाना है। हिन्दी का सर्जक भले ही आलोचना की भाषा हिन्दी ले ले, मगर उसका मानस हिन्दी मानस है नहीं और वह पश्चिम का भी मानस पूरी तरह इसलिए हो नहीं सकता कि वह वहाँ की परम्परा की पैदाइश नहीं है। इसलिए वह एक नकलची या पश्चिमी नामों, विचारों से आतंकित करने वाला हास्यास्पद लेखक बन कर रह जाता है।

पश्चिम की साहित्यिक आलोचना के लगभग सभी आन्दोलन चित्रकला, स्थापत्य और शिल्प के प्रयोगों से उत्पन्न हुए चाहे वह प्रतीकवाद हो, बिम्बवाद हो, क्यूबवाद और दादावाद हो या अति यथार्थवाद। अस्तित्ववाद चूँकि यथार्थवाद का ही अनुषंग था, इसलिए उसकी कलाओं के प्रति सोच मनुष्य के अस्तित्व तक ही सीमित रही। चित्रकला, स्थापत्य और शिल्प से एक कलावादी और अतियथार्थवादी कल्पना को इन कलाकारों ने रचा, उससे साहित्य भी अपने शब्द की भौतिक और अभिधात्मक अर्थसत्ता से मुक्त हुआ और अर्थ की आंतरिक शक्ति के प्रति सचेत हुआ। प्रसिद्ध दार्शनिक विटगेन्सटाइन ने भाषा में 'आंतरिक रहस्य' का विचार दिया था और विचार का रहस्य, भाषा की संगीतात्मकता के साथ यह माना था कि अभिव्यक्ति मात्र अभिव्यक्ति नहीं होती, बल्कि वह आंतरिक-रहस्य का प्रत्यक्षीकरण है। पॉल जान्सटन ने विटगेन्सटाइन के विचारों को 'रिथिकिंग दी दनर' नाम से संपादित किया। भाषा में निहित रहस्य के लिए विटगेन्सटाइन का छोटा-सा उदाहरण देकर भाषा का समूचा

मनोविज्ञान ही जान्सटन ने स्पष्ट कर दिया। वह कहता है कि हर विचारशील व्यक्ति या रचनाकार के पास 'इफ थिंकिंग' (अगर ऐसा होता तो) होता है। यह 'अगर-मगर' का विचार ही तो रहस्य है। आंतरिक रहस्य इस 'यदि' में न होता तो 'यदि' से 'इसलिए' तक की अर्थवत्ता तलाशना सम्भव नहीं हो पाता। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि साहित्यिक आलोचना एक प्रकार का 'यदि विचार' या 'अगर-मगर' है, जिसमें आंतरिक रहस्य निहित है और उस रहस्य का सर्जन ही तो एक सर्जक को संभावनावान और आलोच्य बनाता है। क्रोचे ने बहुत पहले अभिव्यंजनावाद का विचार दिया था, जो फ्रांस के कला आन्दोलनों में एक्सप्रेसिनिज़्म (व्यंजनावाद) और इम्प्रेसिनिज़्म (प्रभाववाद) के रूप में प्रचलित हुआ। बावजूद इसके प्रतीकवाद का या बिम्ब का जो कलावाद आया, उसमें मलार्मे, पॉल वेलेरी, रिल्के ब्लोक, स्टीफन जार्ज और डब्ल्यू.बी. येट्स ने प्रतीक को ही कविता का सर्वश्रेष्ठ प्रयोग माना जो आगे चलकर हिन्दी कविता के छायावाद में भी दिखाई दिया। अज्ञेय ने तो उसका प्रचलन 'प्रतीक' और 'नया प्रतीक' जैसी पत्रिकाओं से बढ़ा दिया। यहाँ अज्ञेय को भी चाहिए तो यह था कि वे पश्चिमी दर्शन के समक्ष भारतीय दर्शन, पश्चिमी लेखन के समक्ष भारत के प्राचीन और आधुनिक लेखन का एक ऐसा समांतर खोजते जिससे लगता कि हम अपनी परम्परा में कितने प्रगल्भ और पुष्ट हैं या कितने पिछड़े हैं। कुछ हद तक ऐसा अज्ञेय, विजयदेव नारायण साही और मुक्तिबोध ने किया भी मगर वह सर्वमान्य नहीं हुआ।

एंग्लो-जर्मन-फ्रेंच विचार से पृथक् अमेरिका में एजरा पाउण्ड ने बिम्ब को सर्वाधिक प्रधानता दी। इलियट भी उसी स्कूल के साथ हुए तो जरूर लेकिन इस कारण वाल्ट विटमेन एन.सेक्सटन और अन्य समकालीन कवि यहाँ तक कि काले अप्रीकी कवि अमरीकी कविता में बहुत अधिक महत्त्व न पा सके और वाल्ट विटमेन लोकप्रिय कवि होने के बावजूद बिम्बवाद से पृथक् ही रहे, जबकि प्रतीकों और बिम्बों का जटिल प्रयोग विटमन ने भी किया था। पश्चिम के इन समस्त आन्दोलनों का प्रभाव हिन्दी कविता पर इस कदर हावी रहा कि भारत जैसे देश में जहाँ समृद्ध बहुभाषीयता है, संस्कृत की गहन-गंभीर काव्य-चिन्तन परम्परा रही है, वहाँ पश्चिम ही पश्चिम छाया रहा और हमारे देश की सीमा से लगे छह-सात पड़ोसी देश तक का कोई काव्य-आन्दोलन या कला आन्दोलन हमारी साहित्यिक आलोचना में प्रवेश नहीं कर पाया। आधुनिक लातीनी अमरीकी कविता और अप्रीकी कविता और अफ्रीका के 'द ब्लैक इज ब्यूटीफूल' का विचार और चिनुआ अचिबे का यह कहना कि 'स्टेन्च इज माय इस्थेटिक्स' (बदबू ही मेरा सौंदर्यशास्त्र है) भी हिन्दी के किसी यथार्थवादी, प्रगतिवादी और कलावादी रचना-कल्प में कोई महत्त्व नहीं पा सका। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि समकालीन हिन्दी आलोचना आज तक पश्चिम-उन्मुखी

ही है और उसने अपने कोई मूल्य या मानक नहीं रचे। यहाँ तक कि एशिया में चीन, जापान, पश्चिमी या मध्य एशिया के अरबी-फारसी काव्य शास्त्र तक की ओर भी कभी मुड़ कर नहीं देखा।

उन्नीसवीं, बीसवीं सदी से लेकर आज तक की पश्चिमी कविता में, यहाँ तक कि कथा साहित्य, निबंध और नाटक में भी जब-जब भी अतीत की ओर या उसके सन्दर्भ के निरूपण का प्रश्न आया, तो तीन प्रकार के हस्तक्षेप हुए वह भी विशेषकर अंग्रेजी कविता में। पहला प्रयोग उन्होंने लैटिन भाषा के शास्त्रीय उद्धरणों का किया, दूसरा स्पेनिश, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं के मूल-भाषा में ही उद्धरण दिए। यूरोप में पड़ोसी देशों की भाषाओं को पढ़ने-पढ़ाने या सीखने का रिवाज है, इसलिए वहाँ के पाठकों को इन हस्तक्षेपों को समझने में कठिनाई नहीं हुई। दूसरे उनके पास अंग्रेजी व अन्य भाषाओं के शब्दकोष त्वरित रूप से उपलब्ध होने के कारण उन्हें ऐसे उद्धरणों के अर्थ खोजना आसान लगा। तीसरा प्रयोग था उनका कला-आन्दोलनों से साहित्य को जोड़ना जो साहित्य में कल्पनाशीलता, अमूर्तन और अर्थ की आंतरिकता के कारण कविता, कहानी या अन्य सभी विधाओं को समृद्ध कर सके। लैटिन, फ्रेंच, ग्रीक, जर्मन, स्पेनिश के प्रयोग कविता के शिल्प (क्राफ्ट) की दृष्टि से ठीक कहे जा सकते हैं लेकिन इनसे पाठक के आस्वाद की स्वाभाविकता में या अध्ययन की गति में तो अवरोध उत्पन्न होता ही है, इस बात को पश्चिमी आलोचना ने कभी नहीं उठाया।

भारतीय और विशेषकर हिन्दी साहित्य में, संस्कृत की शास्त्रीयता का प्रयोग गद्य के स्तर पर बहुत हुआ, तत्सम शब्दों का भी विपुल प्रयोग देखा गया, लेकिन हिन्दी कविता में संस्कृत के उद्धरणों, कहावतों, मुहावरों आदि का प्रयोग नहीं हुआ या बहुत सीमित हुआ। यह हिन्दी कविता की विशेषता भी है जिसे हम एक सर्जक का भाषाई मूल्य या भाषागत चेतना कह सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दीतर या संस्कृत भाषा का हिन्दी कविता में नहीं के बराबर प्रयोग होने से हिन्दी कविता स्वाभाविक ढंग से पढ़ी गई, बिना अन्य भाषाई जटिलता के। यहाँ तक कि तत्समों की भीड़ के बावजूद प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी के प्रयोगों और अर्थ-रहस्यों को आस्वाद के स्तर पर पढ़ने में कोई अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ। हमारे आलोचकों ने हिन्दी कविता के इस पक्ष को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया, जबकि यह हिन्दी भाषा की अपनी ही रसात्मक क्षमता का बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। कोई भी रचना, उसकी मूल भाषाई रचना में बिना अवरोध के रसानुभूति और विचार-साक्षात्कार करा सके, इससे बढ़कर रचना और भाषा दोनों की शक्ति और क्या हो सकती है? इस दृष्टि से हम कह सकते थे कि पश्चिमी कविता से हिन्दी कविता अपनी सर्जनात्मकता और मूल भाषिकता में आगे है और यह हिन्दी भाषा का मूल्य भी है और हिन्दी की रचनाशीलता का मानक भी। हिन्दी ने एक सर्जनात्मक भाषा के रूप में यह बड़ा नवाचार किया है

जब कि हिन्दी की सह-भाषा उर्दू अपने काव्य या गद्य में अरबी-फारसी का हस्तक्षेप नहीं रोक सकी।

‘यदि-विचार’ विटगेन्स्टाइन ने भले ही दिया हो लेकिन इस ‘यदित्व’ की खोज हमें अपने साहित्य में बहुत पहले मिलती है, जब ‘प्रश्न-उपनिषद’ लिखा जाता है या तरह तरह के पौराणिक-संवाद रचे जाते हैं। उस औपनिषदिक प्रश्न-परम्परा का यदि हिन्दी आलोचना में ठीक वैसा ही उपयोग होता, जैसा काव्य-शास्त्र का हुआ या भरत के नाट्यशास्त्र या भर्तृहरि के वाक्य पदीयम् का हुआ, तो सम्भवतया भारत विश्व का पहला ऐसा आलोचक राष्ट्र होता जो कह सकता था कि हिन्दी की परम्परा अपने जन्म से ही आधुनिक है, यहाँ तक कि यदि हमारी साहित्यिक स्त्री-चेतना को देखा जाए तो स्त्रीवादी होने के कारण उत्तर आधुनिक भी है। यह मूल्य-वृत्ति क्यों नहीं पैदा हुई हिन्दी की साहित्यिक आलोचना में? महावीर प्रसाद द्विवेदियों, रामचंद्र शुक्लों, नंददुलारे वाजपेयियों, हजारी प्रसादों से लेकर रामविलास शर्माओं, रामस्वरूप चतुर्वेदियों, नामवरों आदि की भीड़ लग गई हिन्दी आलोचना में लेकिन शायद एक भी तो ऐसा नहीं हुआ जिसे हिन्दी का ल्यौतार, देरिदा, एडवर्ड सईद कहा जाता या हिन्दी लेखक-आलोचक पश्चिम से कहता कि सर्जन-विसर्जन, खण्डन-मण्डन और विखण्डन की परम्परा तो हमारे यहाँ तब से मौजूद है जब बौद्धों ने अपने पिटक रचे और जैन दर्शन में पुद्गल का वैचारिक अन्वेषण हुआ।

हिन्दी भाषा को एक प्रश्नाकुल भाषा बनाने का विचार सर्जकों या आलोचकों के मन में सम्भवतया आया ही नहीं। वे परम्परा का भी ‘वाद’ रचते रहे और ‘परम्परावादी’ हो गए, इसी प्रकार ‘आधुनिकता’ का वाद रचकर ‘आधुनिकतावादी’ हो गए जो एक प्रकार से पश्चिम की इतनी भौंडी नकल थी कि यहाँ हर विचार ‘वाद’ बन गया मार्क्सवाद, कलावाद, माओवाद, वामवाद, समाजवाद आदि। ‘वाद’ पैदा तो विचार से ही होता है और विचार की जब धारा प्रबल, प्रगाढ़ और तीव्र होती है तो ‘वाद’ को विचारधारा भी बनना या बनाना होता है, लेकिन ‘यदि-विचार’ हम अपने परंपरा से उठा लेते तो हम विटगेन्स्टाइन के ‘यदि-विचार’ से भिड़ सकते थे और एक नया वाद ‘यदि-वाद’ का विचार बनाकर हम भी फैला सकते थे। जो आलोचक अपनी परम्परा का तोता-कीर्तन करते हैं, लोक-समृद्ध संस्कृति या सभ्यता का कट्टरतापूर्वक अभिभाषण करते हैं, वे भी आलोचना में किस लोक-संस्कृति के रसात्मक तत्त्व लेकर आए? लोक तो जो भी साहित्य रचता है, वह वाचिक-छन्द में होता है, जिसकी लय होती है, संगीत होता है, ध्वनि होती है, रूप भी होता है, अलंकार होते हैं, लोक-प्रचलित प्रतीक होते हैं और भाव-स्तर पर रस होता है। क्या इन सबको हमारी आलोचना के उपकरण बनाए जाने की कोई कोशिश की गई? हिन्दी की साहित्यिक आलोचना की ‘मूल्य-वृत्ति’ बनी ही नहीं वरना मूल्यों, मानकों, मानदण्डों के दबाव आधुनिकता की

पोशाक पहनकर पश्चिम से नहीं आते बल्कि पश्चिम तक भारत की पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता के साथ हमारे तमाम वैयाकरण और काव्यशास्त्री अपनी सैद्धांतिकी से पश्चिम का फलक हिला देते।

हिन्दी की साहित्यिक आलोचना का एक प्रकार 'टीका-पद्धति' रहा तो अवश्य लेकिन आलोचकों ने संस्कृत-आलोचकों की तरह उसका प्रयोग लगभग नहीं के बराबर ही किया। वागीश शुक्ल सम्भवतया आधुनिक आलोचना के पूरे परिदृश्य में, एकमात्र टीकाकार हैं जिन्होंने 'राम की शक्तिपूजा' जैसी निराला की जटिल रचना की टीका कर यह प्रगट किया कि टीका में अर्थ की आंतरिक काया का अन्वेषण किसी भी कविता के आस्वाद का रस-विज्ञान है, भाषा के अर्थोन्मेष का भाषिक प्रमाण है! जब भी किसी ठेठ हिन्दीवादी आलोचक से संवाद होता है तो वह अपनी संस्कृति, परम्परा और लोक-जीवन के सहमे तर्कों का एक कठोर जाल बुनने की कोशिश करते हुए विश्व साहित्य या अंग्रेजी साहित्य पढ़कर आलोचना करने वालों को गलियाता है लेकिन वह यह नहीं देखता कि उसने स्वयं अपनी परम्परा और संस्कृति का कितना काम किया, उनके अन्दर से आलोचना के लिए ऐसी कौन सी सार्वभौम अर्थ और रस-छवियाँ खोजीं जिनसे लगता कि संस्कृत भाषा की परम्परा ही हिन्दी-आलोचना के लिए समग्र रूप से उपयुक्त और तर्कपूर्ण है? यहाँ तक कि जब विचार का प्रश्न उठता है तो हमें अपनी आलोचना में विचार तक भी तो विदेशी ही लेना पड़ता है। मार्क्स या यों कहें हीगल, हैडेगर से लेकर ल्यूकाच, लीविस तक, हमने जब विचार में वामवाद अपनाया तो हिन्दी आलोचना ने प्रतिबद्ध-प्रस्थान किया। इसी तरह जब पश्चिम के तमाम कला-आन्दोलन हिन्दी में आए तो साहित्य की आलोचना का एक नया कलापक्ष उजागर हुआ। भावुकताएँ, रूमनियत, छांदिकता, पौराणिक प्रतीकात्मकता, ऐतिहासिक सन्दर्भ और अध्यात्म एवं दर्शन के ढाई तीन हजार बरस पुराने सोच के पुरातत्त्व से हिन्दी आलोचना ने मुक्ति की नई दिशा अपनाई, जिसके उदाहरण रामचंद्र शुक्ल, नंददुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद जी तो थे ही लेकिन रामविलास शर्मा और नामवर सिंह ने तो रचना का समूचा भूगोल ही खोल दिया, सांस्कृतिक अस्मिता के साथ भी और आधुनिक काल-बोध एवं विचार-बोध के साथ भी। इन दो आधुनिकों के मुकाबले इनके ही समकालीन कितने आलोचक हिन्दी को वह प्रगाढ़-प्रगल्भ आलोचना दृष्टि दे सके जिनसे लगता कि वे रामविलास जी और नामवर जी से आगे के आलोचक हैं। कहने को रामस्वरूप चतुर्वेदी, अशोक वाजपेयी, रमेशचन्द्र शाह, प्रभाकर श्रोत्रिय, निर्मला जैन, मैनेजर पाण्डेय, विश्वनाथ त्रिपाठी, पुरुषोत्तम अग्रवाल, कृष्णदत्त पालीवाल, विजयबहादुर सिंह, सुधीश पचौरी, मलयज, मधुरेश, हृदयेश, नंदकिशोर नवल, नंदकिशोर आचार्य जैसे अनेक नाम हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने वाले माने जा सकते हैं लेकिन ये सब भी आलोचना की किसी नई विचार भूमि

का निर्माण कहाँ कर सके? कथा साहित्य में देवीशंकर अवस्थी का नाम एक प्रकार से कथा-आलोचना के रामचंद्र शुक्ल की तरह हो गया है। कुछ काम धनंजय वर्मा, विजयमोहन सिंह, पुष्पपाल सिंह, महीप सिंह आदि ने किया फिर भी उपन्यास-आलोचना तो ठीक से हुई ही नहीं। भारतभूषण अग्रवाल ने उपन्यासों पर अच्छा शोधकार्य किया लेकिन उपन्यास जो विश्व की सर्वाधिक प्रचलित विधा है, उसकी आलोचना का कोई ई. एम. फर्स्टर हिन्दी में अभी तक नहीं हुआ।

आलोचना के दो प्रकार आमतौर से बताए जाते हैं। एक सैद्धांतिक और दूसरा व्यावहारिक। हमने हिन्दी आलोचना की क्या ऐसी सैद्धांतिकी रची जो पश्चिम की सैद्धांतिक के समकक्ष हो? रीडर रिस्पान्स (पाठक-प्रतिसाद), शिकागो समीक्षा, मेक्सिको की चिकाना-चिकानो समीक्षा, फ्रायडियन समीक्षा भाषिक समीक्षा जैसे जो विकल्प पश्चिम ने दिए उनसे मलार्मे और पॉल वेलेरी या लीविस, ल्यूकाच के बाद विचार का एक नया विचलन आया जिसमें फ्रेडरिक जेम्सन भले ही वामवादी आलोचक रहा हो, लेकिन प्रतिबद्धता के अनेक पूर्वग्रह भी खंडित हो गए। इसी प्रकार वहाँ जिसे व्यावहारिक आलोचना ने जब हस्तक्षेप किया तो लीविस, स्पेण्डर और फ्रेंक कर्मोड ने प्रचलित अकादमिक आलोचना के तरीके बदले। कक्षा में कविता की जो स्केनिंग, छन्द अलंकार की मीटरिक प्रणाली थी, उसे अलग रख कर शैली-विज्ञान, संरचनावाद, संकेतवाद या चिह्नवाद तनाव आदि को अपनाया। गद्य और पद्य दोनों में ही आगे के आलोचकों ने कला-मूल्यों को आजमाया और आलोचना ने रचना की परख पेंटिंग, संगीत, कोलाज, पेरेंडी आदि के आधार पर प्रारम्भ की। इससे रचना की ध्वनि और ध्वनि का रेटरिक भंग हुआ और रचना में निहित रस का मौन, सौंदर्य का मौन ऐसा लगने लगा, जैसे कविता केनवास हो गई हो या उसकी अन्तरध्वनियाँ मौन का संगीत बन गई हों। ऐसा भी तो हिन्दी आलोचना ने कम ही किया। कुछ नाम हैं जिनके पास आलोचना का कलाबोध था जैसे प्रभाकर श्रोत्रिय, रमेशचंद्र शाह, अशोक वाजपेयी, उदयन वाजपेयी, मदन सोनी आदि।

जहाँ तक वैचारिक हस्तक्षेपों का सम्बन्ध है, रचना के भाषा-भूगोल का जिस प्रकार अन्वेषण ल्यौतार, रोट्टी, देरिदा, एडवर्ड सर्ईद ने किया वैसा क्या किसी हिन्दी आलोचक ने किया? इसका मूल कारण यह है कि जब चुनौतीपूर्ण रचना जन्म लेती है तो चुनौतीपूर्ण आलोचना का भी उद्भव होता है। हमारे विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग (कुछ अपवादों को छोड़कर) जब भारतीय काव्य शास्त्र के दो-चार नाम और पश्चिम के प्लेटो, अरस्तू, लांजापनस आदि से आगे जाते ही नहीं, यहाँ तक कि हिन्दी में हिन्दी के नए आलोचक की दिशा और दृष्टि का अध्ययन नहीं करते तो उनके लिए तो रामचन्द्र शुक्ल ही आरम्भ हैं और शुक्ल जी ही अंत या अधिक से अधिक वे अज्ञेय, मुक्तिबोध, नंददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद जी, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रामविलास

शर्मा और अंततः नामवर सिंह पर आकर पूर्ण विराम कर देते हैं। आज हम भले ही यह सवाल न करें कि हिन्दी का देरिदा, ब्रेतां, कलर, केरनन, फूको, सूजन साण्टेग, ल्यौतार आदि कौन हैं। यहाँ तक कि विचारधारा को भी आधार मान लिया जाए तो क्या कोई लीविस, ल्यूकाच, स्पेण्डर, प्लूखोनोव, ईगलटन आदि हैं, तो शायद ही कोई ऐसा नाम मिले जिसने कोई मौलिक स्थापना दी हो। यदि रामविलास शर्मा और नामवर सिंह का भी उत्तराधिकार खोजा जाए तो क्या है हमारे पास कोई दूसरा रामविलास शर्मा या नामवर सिंह? कलावादी जगत भले ही कितना ही बड़ा बौद्धिक आतंक पैदा करे, मगर क्या उनका भी अपना कोई इलियट, आरनोल्ड, फ्रेंक कर्मोड, पाउण्ड आदि है और अगर परंपरा के साथ भी देखें तो क्या संस्कृति सम्पन्न दृष्टि के साथ, एक समग्र भारतीयता के दर्शन के साथ क्या हमारे पास दूसरा गोविन्द्रचन्द्र पाण्डेय, विद्यानिवास मिश्र, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशदेव शल्य, अज्ञेय आदि हैं? जब भारतीयता के भारवाहक आत्म-मुग्ध होकर अपनी सांस्कृतिक छवि नहीं बना पाते तो वे संस्कृति और परम्परा के नाम पर अपने कुतर्क खोजने लगते हैं, उन्हें अपनी विवाद भरी, सड़ी-गली बदबू भी सौंदर्य लगती है। आज साहित्य अपनी सार्वभौम सत्ता के साथ विश्व-संवेदना से जुड़ा है। उसमें जो मनुष्य है वह मनुष्य पहले है फिर चाहे वह एशिया-अफ्रीका का हो, यूरोप-आस्ट्रेलिया-अमरीका का हो। संवेदना के स्तर देश-काल, स्थिति और विचार के आधार पर तय किए जा सकते हैं लेकिन मौत पर रोना हर मनुष्य की संवेदना का हिस्सा है, त्रासदियाँ हर मनुष्य की संवेदनाएँ हैं, खुशियाँ हर मनुष्य, हर सभ्यता का आनंद हैं। यदि साहित्य संवेदनात्मक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है, तो उन संवेदनाओं को उनके समूचे सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ सार्वभौम सन्दर्भ में देखना-परखना होगा तब जाकर कोई रामायण या महाभारत, इलियड और ओडिसी, या डिवाइन कामेडी का पुनर्जन्म होगा और यदि ये जन्म न भी लें, तो एक ऐसी रचना का तो जन्म अवश्य हो सकेगा जो एस्कमो के बर्फ से आल्प्स के बर्फ तक एक हो, जो होनोलुलू से हिमालय तक एक हो, जो किलेमंजारू से कंचनजंघा तक एक हो, जो अटलांटिक से अरब सागर तक एक हो।

आज हिन्दी आलोचना की जरूरत है कि वह अध्ययन-उन्मुखी और अन्वेषण-उन्मुखी पीढ़ी को रचे। प्रतिभाएँ कम नहीं हैं, लेकिन वे आत्ममुग्धता के क्षणिक सुख और यश से स्वयं का ही अपहरण कर लेती हैं। विचार की नई भूमि का उत्खनन करना होगा। पश्चिम-पश्चिम या परम्परा-परम्परा चिल्लाने से काम नहीं चलेगा। आलोचना को अपने नए मनुष्य-बोध के साथ रचना-बोध विकसित करना होगा, नई मूल्य-वृत्ति रचनी होगी और साहित्य की हर विधा के लिए उसकी परख के सर्वग्राही, सार्वभौम भारतीय मानदण्ड खोजने होंगे। आई. ए. रिचर्ड्स ने अपनी प्रेक्टिकल क्रिटिसिज़्म पुस्तक में काव्य समीक्षा के चार प्रकार माने हैं⁽¹⁾ प्रस्तुत अर्थ

या व्यंग्य-वस्तु (seuse) (2) व्यंग्य-भाव (feeling) (3) बोधव्य की विशेषता (tone) और भीतरी उद्देश्य (inflection)। आचार्य रामचंद्र शुक्ल इन चारों प्रकारों की समीक्षा करते हुए रिचर्ड्स के शब्दशक्ति-निरूपण को तो उचित मानते हैं लेकिन चौथे प्रकार को अधिक अभिधायुक्त होने से नकारते हैं। वे तो मानते हैं काव्य और प्रकृति में शुक्ल जी आलंबन और आश्रय पक्ष की सार्थकता भी प्रकट करते हैं। वे तो 'काव्य-दृष्टि' को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानते हुए कहते हैं 'काव्य-दृष्टि से जब हम जगत को देखते हैं तभी जीवन का स्वरूप और सौंदर्य प्रत्यक्ष होता है।' हिन्दी आलोचना को ऐसी 'काव्य दृष्टि' चाहिए जो जीवन और सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण कर सके फिर चाहे वह काव्य हो, नाटक हो, कथा-उपन्यास हो या अन्य कोई विधा।

शुक्ल जी ने पश्चिमी आलोचना और साहित्य को पढ़कर जिस प्रकार हमारे शास्त्रों और परम्परा से उसका समन्वय किया, उससे उनकी आलोचना में एक विश्वव्यापी काव्यदृष्टि बनी। ऐसा प्रयास नगेन्द्र, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह भी करते हैं लेकिन हिन्दी का प्राध्यापक-आलोचक अथवा शोधपरक आलोचक ऐसी काव्यदृष्टि क्यों विकसित नहीं कर सका। न वह हजारीप्रसाद जी की तरह सर्जनात्मक है, न नंददुलारे वाजपेयी की तरह विवेचनात्मक और न नगेन्द्र की तरह शास्त्रीय। इस कारण वह उद्धरणों का जखीरा खड़ा कर देता है जिसके कारण काव्यदृष्टि और भौतिकता तो लुप्त हो जाती है और आलोचना मात्र कथाई नोट्स बनकर रह जाती है। यदि आलोचना में 'यदि-विचार' के साथ अन्वेषणात्मक और काव्य-दृष्टि सम्पन्न सर्जनात्मकता पैदा की जा सकी तो हिन्दी की साहित्यिक आलोचना अधिक विश्वसनीय, भ्रातिमुक्त और संवेदन एवं सौंदर्य-मूलक हो सकेगी।

रमेशचन्द्र शाह : आधुनिक भावबोध के कवि

डॉ. मनोज पाण्डेय*

‘प्रत्येक कवि में विलक्षणता का तत्त्व पहले अनगढ़ होता है धीरे-धीरे उसमें प्रभाव-मँजाव आता है। पहले व्यक्तिगत प्रतिभा अपना अलग वैशिष्ट्य स्थापित करती है। धीरे-धीरे वह उस चीज को जज्व करती है जिसे जातीय प्रतिभा कह सकते हैं। यह कविता की, कवि-कर्म की अनिवार्य दिशा है। यह प्रक्रिया कवि के अनजाने चलती रहती है। व्यक्तिगत विलक्षणता का, संवेदना का महत्त्व कभी नहीं घटता, वह तो उलटे बढ़ता ही जाता है। उसमें उत्तरोत्तर तीखापन आता-जाता है। पर अब उसमें से ज्यादा-से-ज्यादा भाषा का इतिहास बोलने लगता है। बकौल एलियट कवि के पुरखे भी बोलने लगते हैं और कवि का समूचा युग परिवेश एकाग्र होकर विंध आता है।’

‘छायावाद की प्रासंगिकता’ में छायावादी कविता और कवियों के रचना-विधान को लेकर लिखी गई रमेशचन्द्र शाह की उपर्युक्त पंक्तियाँ उनके कवि व्यक्तित्व की बनावट-बुनावट पर भी यथावत लागू होती हैं। शाह में कवित्व की वह विलक्षणता है, जिसे उन्होंने अपने जातीय संस्कारों से प्राप्त किया है तथा निरन्तर निखारा है, उसमें कुछ-न-कुछ जोड़ने का प्रयास किया है। यही वजह है कि उनकी काव्ययात्रा ऊर्ध्वमुखी रही है।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ‘आधुनिक कविमाला’ के 24वें पुष्प के रूप में प्रकाशित शाहजी का काव्य-संग्रह ‘आधुनिक कवि’ सम्मेलन की समसायिक साहित्य चिन्ता और सचेतनता को तो दर्शाता ही है प्रो. शाह जैसे अपेक्षाकृत गम्भीर और महत्त्वपूर्ण कवि की कविताई को चर्चा से परे परखने के साहित्यालोचकों की दुरभिसन्धि में छेद भी लगाता है। इस संकलन से शाह के कवि व्यक्तित्व की एक मुकम्मिल तस्वीर उभर कर सामने आई है। एक ऐसी तस्वीर जो भारतीय जातीय परम्परा-संस्कृति, मिथक, मूल्य से तो हमें रू-ब-रू कराती ही है। अपने समकाल का भी अता-पता बतलाती है। शाह हमारी जातीय-सांस्कृतिक छवियों, स्मृतियों, मिथकों को आधुनिक

*हिन्दी विभाग, रा.तु.म. नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर 440033; मो. 09595239781

सन्दर्भों के साथ जोड़ते हैं। इस प्रकार वर्तमान की लय पर इतिहास की अनुगूँज भी उनकी कविता में सुनाई पड़ती है। कविता को लेकर, कविकर्म को लेकर उनकी धारणा समीक्ष्य संग्रह की भूमिका के अन्तर्गत प्रकाशित है। इस भूमिका को देखते हुए ऐसा लगता है कि प्रो. शाह वस्तुतः कवि हैं। या कि कवि के पहले हैं बाकी कुछ बाद में। विडम्बना यह है कि उन्हें कवि मानने से कइयों को ऐतराज रहा है। समझ में नहीं आता जो व्यक्ति इस दर्जे तक कवि हृदय है (मात्र सहृदय नहीं) कि उसे 'आदमी की स्वतः स्फूर्त भाषा तो कविता ही है, गद्य नहीं' और 'वह (कविता) मेरे जीवन भोग और मेरे परिवेश पर्यावरण को आलोकित करने वाली क्रिया है' लगता है जिसका कवित्व तयशुदा, दूसरों द्वारा बताए हुए अँगुली निर्देश से संचालित कदापि नहीं हैं, साथ ही जिसमें अनुभवों के सीझने और पकने की एक समूची प्रक्रिया निहित है, जिसमें शब्दाश्रित वाग्मिता नहीं भाषिक और भावात्मक संवेदन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पकड़ ऐसी है कि वह शब्दों से ही पूछ बैठता है

शब्द बताओ

कहना क्या है?

शब्द बताओ/गहना क्या है?

मेरा तुम्हें/तुम्हारा मुझे/उलाहना क्या है?

शब्द बताओ/सहना क्यों है?

तुमने हमको/हमने तुमको/पहना क्यों है?

या कि जो रचनाकार यह मानकर चलता है कि 'हमारे द्वारा जिए गए जीवन की गुणवत्ता और सार्थकता की जो कसौटी है वही कसौटी अच्छी कविता की भी होनी चाहिए' तथा 'कविता एक ऐसी कला है जिसकी सारी सामग्री मनुष्य की अपने को अभिव्यक्त करने की छटपटाहट से उपजी है।' फिर चाहे यह स्वर हो, लय हो, व्यंजन हो, शब्द हो, वाक्य हो, राग-विराग हो, सुख-दुःख को या कि रूप-गन्ध ऐसे शुभ्र और उदात्त भावों के रचनाकार की कवित्व-शक्ति का अचर्चित रह जाना शोचनीय है। हमारे साहित्यिक परिवेश पर भी दुःखद टिप्पणी है।

अपने वक्तव्य में प्रो. शाह लिखते हैं 'एक मानी में असली कवि तो स्वयं भाषा ही है।' भाषा के प्रति उनकी ये आस्था अज्ञेय की याद दिलाती है। सार्थक और समर्थ शब्दों को आराधक शाह जी भी रहे हैं। उदाहरणस्वरूप उनकी आपातकाल पर लिखी कविता को देखा जा सकता है

ये तलुवे की ताली, वो हलुवे की थाली

ये मिट्टू बाराती, वो पिट्टू संगती

हरिश्चन्द्र आओ, तो ढोलक बजाओ

जो अब भी न आओ, जहन्नुम में जाओ।

यों तो शाह जी ख्याति समीक्षक और चिन्तक के रूप में रही है, यद्यपि उपन्यास और निबन्ध भी उनके खासे चर्चित हुए हैं, ये किन्तु कवि रूप पाँच-छह काव्य-संग्रहों के बावजूद प्रायः अचर्चित-सा रहा है। वैचारिक स्तर पर अगर देखें तो शाह जी जो यह कहते हैं कि 'कविता करना, अपने अनुभव का अर्थोन्मेष पाना और रचना है। उसमें एक न्यास एक लयात्मक संगीत का आश्वासन पाना है। दरअसल हर कविता का प्रारम्भ ही एक लयात्मक शब्द संगति से होता है। कविता पूरी होने का मतलब ही, आरम्भिक उद्वेग से एक नियन्त्रित लय के जरिए उबर आता है' उनकी कविता के कैनवास पर ऐसी लयात्मक संगति विविध रूपों में दिखती है।

रँभाती है गाय... पक्षी और तारे
लौट आते
रात महुए-सी निखर चुपचाप
झरी जाती
समय है हर चीज का इस सृष्टि में
हर चीज की अपनी लय है।

ऐसे ही उनकी प्रारम्भिक दौर की एक कविता देखें

मैं कोल्हू का बैल सदा का
दशा दिशा क्या जानूँ अपनी
होश सँभाला था तबसे ही
बन्द हो गए मेरी खातिर
जीने के सब तर्क।
सुनो, मन्दराचल तो केवल एक कथा थी
मैं तो गले-गले तक डूबा/पेर रहा हूँ जनम-जनम से
तुम सबका यह नर्क।

जातीय आसीमता की चिन्ता शाह की कविता का केन्द्रीय भाव हैयह कहना कतई गलत नहीं होगा। उनकी अधिकांश कविताएँ आत्म-अस्मिता और जातीय बोध से जुड़ी हुई हैं। यही वजह है कि वे पौराणिक, सांस्कृतिक, चरित्रों और प्रसंगों का, स्मृतियों और बिम्बों का बारम्बार उल्लेख करते हैं। किन्तु महत्त्वपूर्ण यह है कि पौराणिक चरित्रों को शाह जी किसी पुनरुत्थानवादी मानसिकता से नहीं उकेरते। वे वस्तुतः उसमें रमते हैं और वहाँ से रचनात्मक ऊर्जा ग्रहण करते हैं। वे अतीतजीवी होकर नहीं बल्कि अतीत के पुनर्विलोकन से जातीय स्मृतियों को कुरेदने से आज और कल की पहचान के लिए, समझ के लिए प्रेरणा और दिशा-बोध दोनों कराते हैं। यही वजह है कि उनके यहाँ अतीत का महज बखान नहीं बल्कि अतीत की स्मृतियों में निहित जाती अस्मिता के प्राणदायी तत्त्वों की तलाश है। ऐसी अस्मिता जो लेखक को

ऊर्जावान बनाती है, उसकी सृजनात्मकता को निखारती है। इसीलिए पौराणिक चित्रण में वे रूढ़िगत वैचारिकता के शिकार नहीं होते बल्कि आधुनिकता की कसौटी पर उसे निरखते-परखते और उकेरते हैं। आंग्ल भाषा के प्राध्यापक होते हुए भी प्रो. शाह का यह अस्मिता-बोध उल्लेखनीय ही नहीं प्रशंसनीय भी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह वे इतिहास-देवता की आराधना करते हैं। 'व्यासपर्व' में वे कहते हैं

नाचो नाच रहे ही हो
इतिहास पुरातन
बाँचो बाँच सको यदि इसको
कथा सनातन
जैसे तुम ही हो गवाह
इस/ढलती हुई
सदी के
जैसे तुम ही व्यास
कृष्ण द्वैपायन इसकी
नेकी और बदी के।

आधुनिकता-बोध को अतीत के पौराणिक प्रसंगों से जोड़कर किस प्रकार उन्हें एक नए सन्दर्भ और तर्क के साथ व्यक्त किया जा सकता है इसका एक उदारण है 'युगान्त' कविता।

विदा ले चुका मेरा वह विश्वास मुझी पर
जो अभिन्न था पवन पुत्र-सा
वैदेही-सा।

देख रहा हूँ
मैं नाटक का अन्त
अभी से
जिसे खेलना ही होगा पर
मुझे अन्त तक
न्याय नहीं कर सकते ये नागरिक
माँग कर सकते केवल
रामराज्य की/साक्षी होगा

पहला कवि ही
इस वियोग का।

यहाँ राम के बहाने या कि माध्यम से शाह जी न सिर्फ उस सतयुग से आज के वर्तमान को जोड़ते हैं और यह मानते हैं कि 'अब/पृथ्वी पर कोप/प्रहसन ही होगा'

बल्कि यह भी जानते हैं कि किस प्रकार आज की जनता एक तरफ अपने कर्तव्य से विमुख होती गई है और दूसरी तरफ रामराज की माँग कर रही है। ऐसे कर्तव्यच्युत नागरिक से उन्हें न्याय की उम्मीद नहीं है। सम्भवतः इसीलिए कवि को यह कहना पड़ता है कि 'देख रहा हूँ/मैं नाटक का अन्त' यह कवि की सदिच्छा और संवेदनशीलता ही है जो वह संकल्पबद्ध होता है कि इसे मुझे अन्त तक खेलना ही होगा। यह अन्त तक खेलना वस्तुतः जीवन का वह नाटक है, ऐसा अभिनय है जो मानवता के हितार्थ खेला जाना है।

यहीं नहीं, कृष्ण, हनुमान आदि पौराणिक पात्रों को भी शाह अपनी काव्य-यात्रा में लाते हैं और इन पात्रों के जरिए भी वे पौराणिक आख्यान नहीं करते बल्कि अपने युग-यथार्थ पर चिन्तन करते हैं

*यह युगान्त हैकान लगाकर सुनो पार्थ, तुम
अगले युग की आहट
मेरे अपने बीच यहीं पर
हो जाने दो सब कुछ की
सब कुछ से ही टकराहट।*

ऐसा इसलिए क्योंकि कवि शाह मानते हैं कि जीवन में जो कुछ है असंगति-विसंगति, वह नारायण की कृपा नहीं नर की अभिलाषा का परिणाम है। ऐसे तमाम सन्दर्भों और स्रोतों को शाह काव्यजगत में लाते हैं जिनमें इतिहास बोलता हैवर्तमान को सन्दर्भित करते हुए। 'व्यासपर्व' शाह जी की एक ऐसी ही अपेक्षाकृत लम्बी कविता है जिसमें नदी के माध्यम से इतिहास को उकेरा गया है, वर्तमान भी यहाँ अपने यथार्थ में मौजूद है। शाह के चिन्तन और दर्शन को भी यहाँ देखा जा सकता है

*सपना है यह नदी
नदी भागती आई मेरे पास
गोद में लेकर मुझको
लगी सुनाने लोरी
घेरकर मुझे चतुर्दिक
बहती/चली आ रही कब से
मैं लिखता इतिहास नदी का
और, नदी यह मेरा।
इसी बीच हो गया युगान्तर*

पता नहीं हूँ कहाँ आजकल
रचता हूँ अब भी
सरस्वती को।

पौराणिक प्रसंगों के अलावा शाह जी जीवन से जुड़े अनेक पहलुओं को काव्य-विषय बनाते हैं जिनका सम्बन्ध हमारे रोजमर्रा के जीवन से है। 'फर्क' कविता इसका एक बेहतरीन नमूना है, जहाँ कवि दैनन्दिन जीवनचर्या में स्वतन्त्रता का मूल्य और महत्त्व इस प्रकार आँकता है

सुबह की स्वतन्त्रता
एक मोहलत है
साँझ की स्वतन्त्रता
कमाई है।

गौरतलब है कि साँझ की स्वतन्त्रता आम आदमी के जीवन में उसकी दैनिक कमाई ही होती है। ऐसे ही कवि जहाँ भी अपना संसार खोजने जाता है वहाँ उसे बाजार ही नजर आता है, जहाँ सब कुछ खरीद-फरोख्त में तब्दील हो गया है

जहाँ भी जाता हूँ
खोजने अपना संसार
वहीं लगा मिलता है
पहले से मुझको
बाजार।

शाह जी की 'स्मरण' कविता का स्मरण भी यहाँ बरबस हो आता है जहाँ कवि एक गरीब मुहल्ले का मुआइना करता-कराता नजर आता है। कवि की संवेदना उस सार्वजनिक नल के नीचे डबडबाते हुए जाने कितने सूरज देख रही है, यह दृश्य कितना मार्मिक है, देखें

एक गरीब मुहल्ला
सार्वजनिक नल के नीचे
रात भर ठिठुरते
खाली बरतन
हाँ मैंने देखे हैं/जाने कितने सूर्योदय
उनमें/डबडबाते।

उल्लेखनीय है कि सूरज उन खाली बरतनों में वैसे ही डबडबा रहा है जैसे गरीब की आँखों में आँसू। यह डबडबाना उस स्थिति का सूचक है जब इन्सान असहाय, निरुपाय, बेबस, बेसहारा हो जाता है। इसी प्रकार कवि का सर्जनात्मक दायित्व 'मुनीम

की चिन्ता', 'हजरतनूह' जैसी कविताओं में बखूबी व्यक्त हुआ है। एक कवि के मानिन्द ही नहीं बल्कि एक जिम्मेदार नागरिक के बतौर हर इन्सान को यह कर्तव्य-बोध और मायाजाल घेरे रहता है कि वह अपने आज के जमा-खाते कल के सुपुर्द करके जाए। ये जमा खाते महज कारोबारी दुनिया से मतलब नहीं रखते मानवीय सामाजिक जीवन के मूल्य और दूसरी महत्त्व की चीजें भी इसके अन्तर्गत आती हैं। मसलन परम्परा, व्यवस्था, लोक-व्यवहार इत्यादि 'मुनीम की चिन्ता' में कवि इन्हें इन शब्दों में वाणी देता है

अच्छा हो मरने से पहले
 मैं मुनीम इस उजड़े घर का
 सील गए इन खातों को
 कुछ धूप दिखा दूँ
 कल के ये आँकड़े
 किसी को
 दीखे तो कल

शाह जी की पिछले दो दशकों की प्रतिनिधि कविताओं को देखें जो इस संकलन में स्थान पा सकी हैं, तो लगता है कि वे निरन्तर अधिक सहज और परिचित से होते गए हैं, बावजूद इसके कि वे स्वयं मानते हैं कि शुरुआती दौर में जो अनगढ़ता और बेलौसपन रहता है वह बुद्धि के हावी होने के साथ-साथ कम होता जाता है और सतर्कता हावी होती जाती है। जीवन जैसे-जैसे जटिल होता गया है, और यह आधुनिक और उत्तर-आधुनिक दौर तो निश्चित रूप से कठिनतर होता गया है, ऐसे समय में कविता करना वास्तव में चुनौती का कार्य है। ऐसा समय आमतौर पर कवि-विमुख ही होता है। प्रो. शाह ऐसे कठिन समय का हवाला देते हुए कहते हैं

कठिन समय हो
 तो कविता का
 कठिन-गझिन-गुत्थिल होना ही
 श्रेयस्कर है

कौन किसे समझाए
 ऐसे कठिन और कवि विमुख समय में
 सरल नहीं होती है कविता किसी काल की।

'सेवानिवृत्ति के बाद', 'पेन्शन', 'कामावली', 'दिल्ली', 'दोस्त', 'शाम : रेल में' आदि ऐसी अनेकशः कविताएँ हैं जो कवि के अपने समय की सहचर बनी हैं। इन कविताओं के माध्यम से कवि ने अपने समय के अहसासों को साझा किया है जो नितान्त वैयक्तिक होते हुए भी नितान्त सार्वजनिक हैं।

शाह की कविता के सन्दर्भ में यदि प्रकृति की चर्चा न की जाए तो अन्याय होगा। अल्मोड़े में पन्त की तरह पल-पल परिवर्तित प्रकृति परिवेश में पैदा होनेवाले कवि शाह में प्रकृति के प्रति गहरी संसक्ति है, महज लगाव नहीं। यही वजह है कि वे नदियों, पोखरों, झरनों का जिक्र कर रहे होते हैं तब भी, और अरावली की गोद में या कि निराला सृजनपीठ में बूढ़े पीपल के नीचे बैठे होते हैं तब भी, उन्हें प्रकृति सदैव सराबोर करती रहती है अपने आकर्षण से, उद्धेलित और उत्प्रेरित करती रहती है अपने रहस्य से किन्तु शाह पूरी तरह से प्रकृति में ही डूबे रहते हैं यह कहना अधूरा कथन होगा। निराला सृजनपीठ, भोपाल का परिवेश देखें

*बरामदे को फोड़ ध्वज-सा निकला बाहर
को यह जो अमरूद, नहीं अब देता है फल
छेंक चुके छत जामुन के दरख्त दो तरफा
आँगन बूढ़ा आम, और पिछवाड़े पीपल।*

पहाड़ पर बारिश का महीना बड़ा ही मनोरम होता है। इन दिनों ऐसा लगता है जैसे बादल जंगल को बाँहों में भरने को आतुर है। श्री शाह ने अपने अल्मोड़े के इस दृश्य का आँखोंदेखा हाल कुछ कविताओं में बयाँ किया है। जिनमें से एक है 'अल्मोड़े की एक सुबह'

*मूसलाधार बारिश में
रात भरा धुला हुआ नगर
पोंछा लगा कर चमक रही है धूप
पेड़ों के तने, मकानों की छतें
चट्टानों के नक्श*

*खिड़की पर बैठा मैं
एक योजन दूसरे से
देखता हूँ चीड़ों का
रोम हर्ष*

*झुका हुआ नीला आसमान
बलढौटी के जंगल को
बाँहों में भर रहा है।*

इसी प्रकार खुद कविता पर शाह जी ने अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिनमें कविता का महत्त्व-ममत्व उसकी बनावट-बुनावट इत्यादि का जिक्र किया गया है यहाँ एक उदाहरण 'उसने कहा' ही पर्याप्त होगा

कविता सोचने में नहीं
कहने में है

कविता कहने में नहीं
करने में है

कविता/वह क्रिया है/जिसमें एक पूरा वाक्य आकर
बहने सहने रहने लगता है।

कुल मिलाकर कवि की शब्दावली में यह कहा जा सकता है के रमेशचन्द्र शाह एक ऐसे समृद्ध कवि हैं जिनके यहाँ भावों-विचारों की विपन्नता नहीं भरपूर वैविध्य है। कविता के कैनवास पर वे जिन रंगों का प्रयोग करते हैं और जिस आनुभूतिक आत्मीयता के साथ करते हैं, वह विशिष्ट है। कथा और आलोचना के साथ ही काव्य में भी वे बखूबी रमते हैं। कारण यह कि लिखना उनके लिए एक शगल नहीं है बल्कि, तब लिखते हैं जिम्मेदारी का अहसास है। और काव्यात्मक धरातल पर यह एहसास कितना पुख्ता है इसके प्रणाम हैं 'आधुनिक कवि' तथा अन्य काव्य-संग्रह।

डॉ. अंबेदकर और मुस्लिम राजनीति

शंकर शरण*

आज हमारे देश के सामने प्रस्तावित 'सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोधक (न्याय और क्षतिपूर्ति मिलने) विधेयक, 2011' के प्रसंग म. बाबासाहेब डॉ. भीमराव अंबेदकर की पुस्तक *थॉट्स ऑन पाकिस्तान* का पुनः अध्ययन करना जरूरी हो गया है। सन् 1940 म. छपी यह पुस्तक एक ऐतिहासिक कृति है। इसम. तब के भारत म. विगत पचास वर्ष की मुस्लिम राजनीति का विस्तृत, प्रामाणिक लेखा-जोखा है। साथ ही, हिन्दू-मुस्लिम संबंधों तथा इस्लामी दर्शन व राजनीति पर अत्यंत गंभीर चिन्तन भी मौजूद है। जिन्ह. भी भारत म. सांप्रदायिक हिंसा की समस्या को ठीक से समझने की आवश्यकता महसूस हो, उन्ह. यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिए।

चूँकि डॉ. अंबेदकर हिन्दू धर्म और समाज के कटु आलोचक थे, इसलिए उनके विचारों और मूल्यांकन पर किसी सामुदायिक पक्षपात का आरोप लगाना भी सम्भव नहीं। न वह कभी लगाया गया। उलटे, जिन्ना जैसे मुस्लिम नेता ने भी उसे पठनीय बताया था। सन् 1944 म. जिन्ना ने गाँधीजी को भी इसे पढ़ने की अनुशंसा की थी। वैसे भी, डॉ. अंबेदकर बड़े विद्वान और विश्व की व्यापक जानकारी रखने वाले गंभीर अवलोकनकर्ता थे। अस्तु, भारत म. हिन्दू-मुस्लिम संबंधों और इस्लामी राजनीति की विशेषताओं पर डॉ. अंबेदकर की यह पुस्तक स्थायी शिक्षात्मक मूल्य रखती है। यहाँ हम इसके आकलनों को विस्तार से इसीलिए ले रहे हैं, क्योंकि यह उसी विषय पर क.द्रित थी, जिसकी आज उक्त प्रस्तावित कानून के सन्दर्भ म. चर्चा हो रही है। डॉ. अंबेदकर ने पुस्तक के द्वितीय संस्करण (1945) की प्रस्तावना म. लिखा था, “यह भारतीय इतिहास और भारतीय राजनीति के सांप्रदायिक पहलुओं की एक विश्लेषणात्मक प्रस्तुति है।”

इस पुस्तक की आवश्यकता को भारी महत्त्व देते हुए डॉ. अंबेदकर ने इसे लिखने के लिए कई जरूरी काम स्थगित कर दिए थे। वस्तुतः यह मूलतः पुस्तक

* डॉ. शंकर शरण, IV/44, एन.सी.ई.आर.टी. आवास, श्री अरविंदो मार्ग, नई दिल्ली-110016

नहीं, बल्कि मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान प्रस्ताव पास करने के बाद इस विषय पर इंडिप.ड.ट लेबर पार्टी (आई.एल.पी.) का प्रतिवेदन था जिसे डॉ. अंबेदकर ने तैयार किया तथा आई.एल.पी. की एक विशेष समिति के पुनरीक्षण के बाद इसे प्रकाशित किया गया। इसका उद्देश्य, डॉ. अंबेदकर के ही शब्दों में, “पाकिस्तान के बारे में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को अपने निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायता करना है।” (बाबा साहेब डॉ. अंबेदकर, ‘संपूर्ण वाङ्मय’, खंड 15, भारत सरकार, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मन्त्रालय, जनवरी 2000, पृ. xiii-xiv आगे इस लेख में सभी उद्धरण इसी खंड से लिए गए हैं। अतः इस लेख के सभी उद्धरणों के बाद कोष्ठकों में केवल पृष्ठ संख्या रहेगी)। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि आज बहतर वर्ष बाद भी भारत में मुस्लिम राजनीति को समझने में यह पुस्तक बहुत सहायक है।

ग्रावामिन पॉलिटिक

अपनी इस पुस्तक के आठवें अध्याय के अंत में हिन्दुओं को समझाते हुए डॉ. अंबेदकर कहते हैं कि उन्हें इस्लामी राजनीति की विशिष्टताओं को ध्यान में रखना चाहिए। उनके अपने ही शब्दों में, “... अपना दृष्टिकोण निर्धारित करते समय वे कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को अपने ध्यान में रखें। विशेष रूप से उन्हें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि माच पॉलिटिक (Macht Politic) और ग्रावामिन पॉलिटिक (Gravamin Politic) में अंतर होता है, *कम्युनिटास कम्युनिटेम* और *नेशन ऑफ नेशंस* में अंतर होता है। निर्बलों की आशंकाएँ दूर करने वाले रक्षोपायों और ताकतवर लोगों की आकांक्षाएँ पूरी करने के कपटपूर्ण उपायों में अंतर होता है। रक्षोपायों की व्यवस्था करने और देश को सौंप देने के बीच अंतर होता है।” (पृ. 196)

उक्त अंश में माच पॉलिटिक और ग्रावामिन पॉलिटिक का अर्थ डॉ. अंबेदकर ने फुट नोट में संक्षेप में इस प्रकार दिया है। ‘माच पॉलिटिक का अर्थ है सत्ता की राजनीति’ तथा ‘ग्रावामिन पॉलिटिक का तात्पर्य है कि मुख्य रणनीति यह हो कि शिकायत पैदा करके सत्ता हथियाई जाए।’ (‘Gravamin Politic means in which the main strategy is to gain power by manufacturing grievances’.) अर्थात्, डॉ. अंबेदकर के अनुसार भारत में मुस्लिम राजनीति ग्रावामिन पॉलिटिक है, जो निरंतर शिकायत करते हुए कपटपूर्वक एक दबाव बनाती है। जो दिखावे के लिए निर्बल की आशंका का रूप बनाती है, किन्तु वास्तव में वह एक ताकतवर, संगठित समुदाय की राजनीतिक रणनीति है। हिन्दुओं को यह ठीक से समझकर चलना चाहिए। यह डॉ. अंबेदकर की शिक्षा है।

दसवें अध्याय में एक स्थल पर मुस्लिम राजनीति की विशेषता को रेखांकित करते हुए डॉ. अंबेदकर लिखते हैं, “मुस्लिम राजनीति अनिवार्यतः मुल्लाओं की राजनीति है और वह मात्र एक अंतर को ही मान्यता देती है हिन्दू और मुसलमानों

के बीच मौजूद अंतर। जीवन के किसी भी धर्मनिरपेक्ष तत्त्व का मुस्लिम समुदाय की राजनीति में कोई स्थान नहीं है और वे मुस्लिम राजनीतिक जमात के केवल एक ही निर्देशक सिद्धांत के सामने वे नतमस्तक होते हैं, जिसे मजहब कहा जाता है।” (पृ. 226)। इसी अध्याय में आगे डॉ. अब्दुलकर पुनः कहते हैं कि यह राजनीति हिन्दुओं के साथ बराबरी नहीं, बल्कि उनके ऊपर वरिष्ठता हासिल करने के लक्ष्य से प्रेरित है। इसके लिए मुस्लिम नेताओं ने मुस्लिम स्त्रियों के कुछ अधिकारों की भी बलि चढ़ा दी, जो स्त्रियों को सन् 1939 तक मिली हुई थी।

प्रसंगवश, यह तथ्य अन्य पहलू से भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे दिखता है कि समकालीन भारत में शरीयत की सर्वोच्चता या अनुल्लंघनीयता का मुस्लिम दावा हाल की बात है। वस्तुतः यह भी ग्रावामिन पॉलिटिक का ही उदाहरण है। (सन् 1995 में सरला मुद्गल मामले में भारत के सुप्रीम कोर्ट ने भी कहा था कि यहाँ “मुस्लिम पर्सनल लॉ का जन्म मजहब से नहीं, बल्कि लॉर्ड वारेन हेस्टिंग्स के बनाए कानून से हुआ था।” सन् 1791 में वह कानून आया जिसके अनुसार शादी, तलाक तथा संपत्ति उत्तराधिकार मामलों में मुसलमान और हिंदू अपने-अपने धार्मिक चलन से अलग-अलग चल सकते थे। लेकिन 1832 में उसी ब्रिटिश सरकार ने आपराधिक मामलों में मुस्लिम लॉ को खत्म कर समान कानून लागू कर दिया।) डॉ. अब्दुलकर लिखते हैं कि 1939 तक भारत में कानून यह था कि मुस्लिम कानून के अंतर्गत विवाहित पुरुष या महिला के स्वधर्म-त्याग से विवाह भंग हो जाता था। यानी कोई विवाहित मुस्लिम महिला इस्लाम छोड़ देती थी, तो उसका विवाह स्वतः भंग हो जाता था और “वह अपने नए धर्म के किसी भी पुरुष से विवाह करने के लिए स्वतन्त्र हो जाती थी। साठ वर्ष तक भारत की सभी अदालतों में इस कानून का दृढ़तापूर्वक पालन किया गया।” (पृ. 233) मगर 1939 के मुस्लिम विवाह अधिनियम द्वारा इस कानून को रद्द कर दिया गया। इस कानूनी परिवर्तन के पीछे संपूर्ण मंशा हिन्दुओं की तुलना में मुस्लिम संख्यात्मक अनुपात की ताकत घटने में देने की थी। केवल इसी उद्देश्य के लिए महिलाओं के अधिकार की बलि चढ़ा दी गई। (पृ. 239)

अंतहीन माँग.

दरअसल, डॉ. अब्दुलकर का वह सुप्रसिद्ध कथन कि “मुसलमानों की राजनीतिक माँग. हनुमानजी की पूँछ की तरह बढ़ती जाती है” (पृ. 245) ग्रावामिन पॉलिटिक के रूप में ही ठीक से समझा जा सकता है। अध्याय 11 में डॉ. अब्दुलकर ने इसे विस्तारपूर्वक उदाहरणों के साथ दिखाया है कि हिन्दू नेताओं द्वारा मुस्लिम माँगों को मानते जाने से भी मुस्लिम नेता कभी संतुष्ट नहीं होते थे और फौरन नई माँग. पेश कर देते थे। उनमें ‘फालतू और असम्भव’ माँगें तक होती थीं। यह प्रक्रिया मुसलमानों के लिए एक

अलग देश, पाकिस्तान तक बनवा लेने के बाद भी बंद नहीं हुई है! जो मुस्लिम राजनीति की अप्रतिम सफलता और हिन्दू मूढ़ता, दोनों का नायाब उदाहरण है।

बहरहाल, अपनी पुस्तक के इस अध्याय म. डॉ. अब्देकर सन् 1892 से ही मुस्लिम माँगों का आकलन करते हुए सिलसिलेवार बढ़ते हैं। 1938 म. जिन्ना की चौदह माँगों की विस्तृत सूची का पूरा उल्लेख करके वह कहते हैं कि इसके बाद भी “यह पता नहीं चलता कि मुसलमान अपनी माँगों की इतिश्री कहाँ करने जा रहे हैं।” (पृ. 260-61)। क्योंकि उन चौदह माँगों के बाद कुछ ही महीनों म. एक और बड़ी, महत्वपूर्ण माँग रखी गई कि हर जगह मुसलमानों को 50 प्रतिशत स्थान उपलब्ध कराया जाए। यानी, आबादी के अनुपात से भी बहुत अधिक प्रतिनिधित्व! इसका क्या तर्क था? मुसलमानों के “राजनीतिक महत्त्व के आधार पर”! यदि आप यह या वह माँग नहीं मानते तो मुसलमानों के साथ अन्याय कर रहे हैं, उन्हें अपना गुलाम बनाना चाहते हैं, आदि। यह ग्रावामिन पॉलिटिक का, यानी खुली दादागिरी करते हुए गढ़ी गई शिकायत. ठोकने का एक उत्कृष्ट उदाहरण था। बल्कि यह सीधे-सीधे नस्ली श्रेष्ठता और मजहबी अहंकार की राजनीति थी, जिसम. दूसरों को खुलेआम नीचा समझा जाता था। दुःख की बात है कि हिन्दू नेताओं ने इस प्रवृत्ति को स्वीकार कर हिन्दुओं की और पूरे देश की अपरिमित हानि की।

हिटलरी भाषा और मनोवृत्ति

इस पर डॉ. अब्देकर ने अत्यंत गंभीरतापूर्वक लिखा है, “मुसलमान अब हिटलर की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं तथा जर्मनी म. जिस महत्त्व की माँग हिटलर ने की थी, वे उस महत्त्व की आकांक्षा यहाँ कर रहे हैं। 50 प्रतिशत भागीदारी की उनकी माँग, ‘ड्यूशलैंड उबेर ऐलेस’ (जर्मनी सबसे ऊपर) और हिटलरी नाजियों के ‘लैब.सराउम’ (नाजी जर्मन अपनी जरूरत के लिए जितनी अतिरिक्त जमीन चाहते थे वह इलाका) की माँग के सदृश्य ही है।” (पृ. 262)।

रोचक बात यह है कि यह डॉ. अब्देकर का आरोप मात्र नहीं है, स्वयं जिन्ना ने अपने सार्वजनिक भाषणों म. हिटलरी संज्ञाओं, मुहावरों का अपने लिए गर्वपूर्वक उल्लेख किया। इस प्रसंग का उल्लेख करते हुए डॉ. अब्देकर लिखते हैं, “अनुचित लाभ उठाने की इस प्रवृत्ति का दूसरा प्रमाण मुसलमानों द्वारा गोहत्या के अधिकार और मस्जिदों के पास बाजे-गाजे की मनाही की माँग से मिलता है। धार्मिक उद्देश्य से गो-बलि के लिए मुस्लिम कानूनों म. कोई बल नहीं दिया गया है और जब वह मक्का और मदीना की तीर्थयात्रा पर जाता है, गो-बलि नहीं करता है। परन्तु भारत म. दूसरे किसी पशु की बलि देकर वे संतुष्ट नहीं होते हैं। सभी मुस्लिम देशों म. किसी मस्जिद के सामने से गाजे-बाजे के साथ बिना आपत्ति के गुजर सकते हैं। यहाँ तक कि अफगानिस्तान म. भी जहाँ धर्म-निरपेक्षीकरण नहीं किया गया है, मस्जिदों के पास

गाजे-बाजे पर आपत्ति नहीं होती है। परन्तु भारत म. मुसलमान इस पर आपत्ति करते हैं, मात्र इसलिए कि हिन्दू इसे उचित मानते हैं।” (पृ. 267)

इसके बाद डॉ. अंबेदकर अपनी टिप्पणी देते हुए उल्लेख करते हैं कि श्री जिन्ना और सर अब्दुल्ला हारुन, दोनों ने मुस्लिम लीग के कराची अधिवेशन म. नाजी जर्मनों की तरह “भारतीय मुसलमानों की तुलना ‘सुडेटेन’ से किया जो वही कर सकता था जैसा कि सुडेटेन जर्मनों ने चेकोस्लोवाकिया के विरुद्ध किया था।” (पृ. 267) इस समाकलन के साथ डॉ. अंबेदकर की पूरी टिप्पणी विचारणीय है, “तीसरी बात, मुसलमानों द्वारा राजनीति म. अपराधियों के तौर-तरीके अपनाया जाना है। दंगे इस बात के पर्याप्त संकेत हैं कि गुंडागर्दी उनकी राजनीति का एक स्थापित तरीका हो गया है। चेकों के विरुद्ध सुडेटेन जर्मनों ने जिन तौर-तरीकों को अपनाया था वे उसका जान-बूझकर तथा समझते हुए अनुकरण करते प्रतीत हो रहे हैं।” (पृ. 267)

यदि किन्हीं पाठकों को प्रतीत हो कि डॉ. अंबेदकर की इन टिप्पणियों से जिन्ना और मुस्लिम नेताओं को बुरा लगा होगा, या आपत्ति होगी, उन्ह. यह रोचक तथ्य जान लेना चाहिए कि स्वयं जिन्ना ने गाँधी जी को डॉ. अंबेदकर की यह पुस्तक पढ़ने की अनुशंसा की थी। जिन्ना को डॉ. अंबेदकर की इस पुस्तक के कथ्य, आकलन और टिप्पणियों से कोई आपत्ति न थी, बल्कि सहमति थी! यह इस बात का अतिरिक्त प्रमाण है कि मुस्लिम राजनीति कितनी निश्चितता से अपनी आक्रामकता, अपनी दबंगई, अपने हिटलरीपन को अपनी सबसे बड़ी पूँजी मानती थी। हमारे लिए प्रश्न यह बनता है : क्या आज स्थिति कुछ बदल गई है?

मुस्लिम माँगों की अंतहीनता का आकलन करते हुए डॉ. अंबेदकर की कुछ और टिप्पणियाँ ध्यातव्य हैं। सुडेटेन जर्मनों वाली मनोवृत्ति से भारतीय मुसलमानों की तुलना करते हुए वे आगे लिखते हैं, “उर्दू को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने की उनकी माँग भी उतनी ही विवेकहीन है। उर्दू संपूर्ण भारत म. नहीं बोली जाती है। यही नहीं, सभी मुसलमानों की भी यह भाषा नहीं है। 6.8 करोड़ मुसलमानों (ये आँकड़े 1921 की जनगणना से संबंधित हैं) म. मात्र 2.8 करोड़ ही उर्दू बोलते हैं। उर्दू को राष्ट्रभाषा बनाने के प्रस्ताव का अर्थ, खासकर मात्र 2.8 करोड़ मुसलमानों की भाषा को 4 करोड़ अन्य मुसलमानों और 32.2 करोड़ अन्य हिन्दुस्तानियों पर थोप देने जैसा ही होगा। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि जब भी संवैधानिक सुधार का कोई प्रस्ताव सामने आता है, मुसलमान अपनी एक या अनेक राजनीतिक माँगें रख देते हैं।” (पृ. 262)

इस पर ब्रिटिश सरकार की नीति का उल्लेख करते हुए डॉ. अंबेदकर लिखते हैं कि मुसलमानों की माँगें जितनी ही बढ़ती जाती हैं, प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार उतनी ही उदार हो जाती है। “किसी भी तरह, विगत के अनुभव से यही प्रतीत होता है कि ब्रिटिशों का रवैया मुस्लिमों को जितना वे स्वयं माँगते हैं, उससे अधिक

देने का रहा है। ऐसे दो दृष्टांत दिए जा सकते हैं...” (पृ. 262)। यहाँ ठहर कर वर्तमान स्थिति से तुलना भी की जा सकती है। क्या स्वतन्त्र भारत म. कांग्रेस नेताओं ने ठीक यही नीति नहीं अपनाई है? जम्मू-कश्मीर म. धारा 370 का अयाचित उपहार देने, हज सब्सिडी का कानून बनाने से लेकर अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय की ‘शाखाएँ’ खोलने तक कई विशेषाधिकार, विशिष्ट सुविधाएँ देने का कार्य बिना किसी मुस्लिम माँग के किया गया! और कौन कह सकता है कि यह ठीक उसी उद्देश्य से नहीं किया गया जो ब्रिटिश सरकार का था? यानी, भारत के स्वाधीनता आंदोलन को कमजोर करने के लिए मुस्लिमों को विशिष्ट सुविधाएँ देते हुए हिन्दुओं से ऊपर और अलग रखते हुए अपना शासन सुरक्षित रखने का उद्देश्य। पिछले कई दशकों से भारत के सेक्यूलरपंथी शासकों की नीति यही तो रही है कि राष्ट्रवादी भावनाओं की हिन्दू जनता की हेठी करते हुए मुस्लिम समुदाय को विशिष्ट सुविधाएँ देना, ताकि उनके संगठित वोट के बल पर उनका राज-पाट चलता रहे। क्या यह प्रस्तावित ‘समूह लक्षित हिंसा’ रोकने के नाम पर उलटे किस्म का कानून उसी प्रवृत्ति की सबसे अन्यायपूर्ण और सबसे घातक अभिव्यक्ति नहीं है?

बराबरी नहीं, वरिष्ठता की माँग

मुस्लिम राजनीति किस प्रकार सदैव वरिष्ठता, श्रेष्ठता के अहंकार से चलती है, किसी बराबरी की चाह से नहीं, इसके अनगिनत उदाहरण आए दिन मिलते हैं। यदि कोई उसे न माने, तो ‘मुसलमानों की उपेक्षा करने’, ‘धोखा देने’ जैसे आरोप लगाए जाते हैं। इसका सबसे अधिक अनुभव स्वतन्त्र भारत म. कांग्रेस पार्टी को ही हुआ है। उसने मुस्लिम नेताओं को जितना ही महत्त्व दिया, उन्ह. सुविधाएँ दीं, उनकी अनर्गल और असंवैधानिक, अन्यायपूर्ण माँग. मानीं, उसके बदले उन्ह. कभी ‘थैंक्यू’ शायद ही सुनना नसीब हुआ। सदैव, ठगने और ठगे जाने के ही आरोप मिले हैं। सांप्रदायिक हिंसा रोकने के नाम पर बने इस प्रस्तावित कानून पर भी वरिष्ठता चाहने वाली मुस्लिम माँगों का प्रभाव है।

जमाते-उलेमा ने दो वर्ष पहले आंदोलन की धमकी देकर प्रधानमन्त्री से माँग की थी कि सांप्रदायिक हिंसा रोकने से विफलता पर जिला प्रशासन को उत्तरदायी ठहराया जाए। (द पायोनियर, नई दिल्ली, 30 अप्रैल, 2010)। इस माँग का व्यवहार म. अर्थ होगा कि गोधरा हो तो हो, गुजरात दंगा न हो! कोई मुस्लिम भीड़ रेलवे ट्रेन रोककर आग लगाकर हिंदू तीर्थयात्रियों को जला कर मार डाले, तब भी दंगे न हों। सिद्धांततः इस बात म. कोई दोष नहीं दिखता। दंगे नहीं होने चाहिए, यह ठीक है। मगर भारत के विगत सौ साल के इतिहास को देखते हुए व्यवहारतः यह सामुदायिक पक्षपात साबित होगा। क्योंकि प्रायः दंगे गोधरा जैसी घटनाओं की प्रतिक्रियास्वरूप ही होते रहे हैं। दंगों को झेलने वाले सभी पुलिस थाने और अस्पताल इस सत्य को जानते

हैं। अनुभवी डॉक्टरों के शब्दों में, 'पहले हिन्दू लाश आती हैं'। कि हिंसा की शुरुआत प्रायः मुस्लिमों द्वारा होती है। (जिसे 1970 म. भारत सरकार के गृह मन्त्रालय की उस रिपोर्ट में भी देखा जा सकता है, जिसमें पाया गया था कि विगत 23 दंगों में 22 दंगे मुस्लिमों द्वारा शुरू किए गए थे। वह रिपोर्ट राष्ट्रीय एकता परिषद् के समक्ष भी गई थी और 14 मई, 1970 को लोक सभा में उसकी चर्चा भी हुई थी)। मगर यदि किसी हिंसक घटना के बाद प्रतिक्रियात्मक हिंसा न हुई, तो उसे दंगा नहीं कहा जाता। वह महज एक कांड या वारदात है। कभी ट्रेन में बम विस्फोट, कभी स्टेशन पर, कभी बाजार में, कभी मंदिर में, यहाँ तक कि संसद पर, आदि यह सब 'कांड' हैं। मगर जब प्रतिक्रियास्वरूप हिंसा हो, तब दंगा कहलाता है।

स्वयं गोधरा का हिंदू-दहन इसका प्रमाण है। 27 फरवरी 2002 को गोधरा में साबरमती एक्सप्रेस को रोककर 59 हिन्दुओं को जिंदा जला दिया गया। 28 फरवरी और 1 मार्च, 2002 के सारे बड़े अखबार पलट कर देख लें। उनमें कहीं 'सांप्रदायिक दंगा' या 'सांप्रदायिक हिंसा' जैसा उल्लेख या उसकी बड़े लोगों द्वारा भर्त्सना भी शायद ही मिले। अर्थात्, यदि उस कांड के बाद प्रतिक्रियात्मक हिंसा न हुई होती, तो माना जाता कि दंगा नहीं हुआ। प्रस्तावित कानून वही स्थिति सुनिश्चित करने के लिए जिला प्रशासन को उत्तरदायी बनाना चाहता है कि चाहे कुछ हो जाए, वह 'प्रतिक्रिया' न होने दे। यानी 'क्रिया' हो भी, तो 'प्रतिक्रिया' न हो। इसलिए 'कांड' के लिए जिला प्रशासन जिम्मेदार हो, यह नहीं, बल्कि 'दंगा' के लिए होगा! वस्तुतः पहल यह होनी चाहिए कि 'क्रिया' ही न हो।

केवल एक समुदाय की सुरक्षा

अतः 'सांप्रदायिक हिंसा रोकने में विफलता के लिए जिला-प्रशासन को जिम्मेदार ठहराने' की जमाते-उलेमा की माँग, जिसे प्रस्तावित कानून में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है, एक प्रकार से संगठित मजहबी उग्रवादियों, कट्टरपंथियों आदि को एक प्रकार का सामुदायिक बीमा मिलने जैसा है कि इस्लामी आतंकवादियों, जिहादियों की 'लक्षित हिंसा' (आखिर अमरनाथ यात्रियों, अक्षरधाम, रघुनाथ मंदिर, संकट मोचन, अयोध्या आदि मंदिरों पर जिहादियों के हमलों का क्या अर्थ है?) के बाद दूसरे समुदाय की वैसी ही लक्षित प्रतिक्रिया को पहले से रोकने का उपाय कर दिया जाए! जमाते-उलेमा की माँग और प्रस्तावित कानून में ऐसी धारा की यह व्याख्या अटपटी लग सकती है, किन्तु विविध मुस्लिम प्रवक्ताओं, संगठनों द्वारा जिहादियों का हर हाल में बचाव करने, यहाँ तक कि अदालत द्वारा सजा सुनाए गए आतंकवादी को भी फाँसी न देने की माँग करने, न मानने पर 'सजा सुनाने वाले जजों की हत्या हो सकती है' जैसी धमकियाँ देने, तथा ओसामा बिन लादेन तथा अल कायदा जैसे कुख्यात आतंकवादी संगठनों के प्रति भी खुली सहानुभूति दिखाने, आदि गंभीर वास्तविकताओं

को देखते हुए यह व्याख्या अटपटी नहीं लगेगी। क्योंकि यदि जमाते-उलेमा वास्तव म. हर प्रकार की सांप्रदायिक हिंसा रोकना चाहते हैं तो उन्हें इस्लामी आतंकवादियों, जिहादियों के विरुद्ध भी वैसी ही कठोर कार्रवाई करने की माँग करनी चाहिए थी। वैसे लोगों को पनाह देने वाले मुस्लिमों के प्रति भी खुल कर वितृष्णा दिखानी चाहिए थी। लेकिन उलेमा तो प्रायः इसका उलटा करते हैं। बिल्डिंगें और पुल, हवाई जहाज और मेट्रो ट्रेन आदि उड़ाकर हजारों निर्दोष लोगों की जान. लेने वाले आतंकवादियों के लिए भी उनकी ओर से सदैव बचाव के ही बयान आते हैं। तब यह आशंका गलत कैसे है कि 'दंगे' रोकने की उनकी चिन्ता केवल मुस्लिम हिंसा की कार्रवाइयों पर सामाजिक प्रतिक्रिया रोकने की सुचिंतित रणनीति है? कि क्रिया चलती रहे, प्रतिक्रिया न हो!

जमाते-उलेमा की उसी माँग म. 'आबादी के अनुपात म.' सभी जगह मुस्लिमों को प्रतिनिधित्व देने की माँग भी की गई थी। ऊपर डॉ. अब्दुलकर के अवलोकन के आलोक म. यह सरलता से समझा जा सकता है कि यह बस शुरुआत है जिसका अंत आबादी के अनुपात म. दुगुना ले लेने के बाद भी नहीं होने वाला। 1938-39 म. जिन्ना ने यह दिखाया था कि संपूर्ण भारतीय आबादी म. मुसलमान 20% होते हुए भी, उन्होंने हर जगह 50% स्थान की माँग की। यही 1909 म. भी हुआ था, जब विधान परिषदों म. सुधार की चर्चा थी, तब मुस्लिम प्रतिनिधिमंडल ने वायसराय से यह माँग रखी, "इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल म. मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या उनकी जनसंख्या पर नहीं आधारित होनी चाहिए और किसी भी स्थिति म. मुसलमानों को निष्प्रभावी अल्पमत म. नहीं रखना चाहिए।" (पृ. 247)। अर्थात्, मुस्लिम राजनीति सत्ता पर एकाधिकार से नीचे किसी हाल म. संतुष्ट होने वाली नहीं है। पाकिस्तान बनवा लेने के बाद भी शेष भारत म. किसी न किसी प्रकार मुस्लिम वर्चस्व हो, उसकी संपूर्ण राजनीति इसी से प्रेरित है। कम से कम स्वतन्त्रतापूर्व भारत का संपूर्ण घटनाक्रम यही प्रमाण देता है। डॉ. अब्दुलकर ने इसी को ग्रावामिन पॉलिटिक कह कर हिन्दुओं को चेताने का प्रयत्न किया था, कि वे झूठी शिकायतों की राजनीति के कपट म. फँस कर ताकतवर शिकायतबाजों को देश ही न सौंप द.। दुर्भाग्यवश वही हुआ।

मुस्लिम एकता के खतरनाक रूप

यह भी ऐसा बिन्दु है, जो सामुदायिक बल की तुलनात्मक स्थिति का वास्तविक मूल्यांकन करने के लिए अत्यंत आवश्यक है। इसे हिन्दू और मुस्लिम दोनों भारत म. पिछले सौ वर्ष से जानते हैं, मगर हिन्दू बुद्धिजीवी और नीति-निर्माता इस सत्य को सदैव झुठलाते हैं। 'आतंकवादियों का कोई मजहब नहीं होता' जैसी थोथी दलील. इसका मात्र एक उदाहरण है। यदि आतंकवादियों का मजहब नहीं होता, तो संसद पर आतंकी हमला करने वाले मुहम्मद अफजल को सजा से बचाने के लिए विविध मुस्लिम नेता क्यों लगे रहे हैं? मारे गए आतंकवादियों को पूरे मजहबी सम्मान से दफनाने की

माँग क्यों की जाती है? डॉ. अंबेदकर ने इस बिन्दु को सैद्धांतिक रूप से गंभीरतापूर्वक उठाया था, कि मुस्लिम नेता भले मुसलमान और अपराधी मुसलमान म. कोई भेद नहीं करते कि यह उनकी विशिष्ट शक्ति का एक स्रोत है। इसी सन्दर्भ म. डॉ. अंबेदकर ने मौलाना मुहम्मद अली के ऐतिहासिक वक्तव्य का उल्लेख किया है।

मौलाना मुहम्मद अली खलीफत आंदोलन के प्रसिद्ध नेता और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके थे। वे गाँधी जी के परम मित्र भी थे, जिनका बखान करते गाँधी जी अघाते न थे। उन्होंने मार्च, 1924 म., अलीगढ़ और अजमेर के अपने सार्वजनिक भाषणों म. यह कहा, “श्री गाँधी का चरित्र कितना भी पवित्र क्यों न हो, धार्मिक दृष्टिकोण से वह मुझे किसी भी मुसलमान से, चाहे वह मुसलमान चरित्रहीन ही हो, निकृष्ट ही लग.गे।” (पृ. 306) डॉ. अंबेदकर लिखते हैं कि, “इस वक्तव्य से हलचल और उत्तेजना फैल गई। अनेक लोगों को तो विश्वास ही नहीं हुआ कि श्री मुहम्मद अली, श्री गाँधी के प्रति, जो उन्हें इतना आदर देते हैं, ऐसी कठोर और घृणास्पद भावना रख.गे। जब श्री मुहम्मद अली लखनऊ के अमीनाबाद पार्क की सभा म. बोल रहे थे, तब उनसे पूछा गया कि क्या उनके द्वारा दिया गया उक्त कथन सत्य है, तो उन्होंने बिना किसी झिझक या पश्चात्ताप के कहा : ‘हाँ, अपने धर्म और मत के अनुसार, मैं एक व्यभिचारी और गिरे हुए मुसलमान को भी श्री गाँधी से श्रेष्ठ मानता हूँ।’”(पृ. 306)

इस प्रसंग को हर प्रकार के आतंकवादियों, अपराधियों, जिहादियों का बचाव करने म. मुस्लिम नेताओं की जिद, छल और ढिठाई के सन्दर्भ म. स्मरण रखना चाहिए। यह भी समझना चाहिए कि जब किसी भी पुलिस धर-पकड़ म. ‘निर्दोष मुस्लिमों को सताने’ के आरोप लगाए जाते हैं, तो यह वास्तव म. भोले हिन्दू बुद्धिजीवियों को लक्षित होता है कि वे भी शासन पर दबाव डाल. कि किसी मुसलमान को न पकड़ा जाए। क्योंकि वास्तव म. मुस्लिम समाज अपने निर्दोष और दोषी के बीच कोई खास भेद नहीं करता। उलटे गिरे से गिरे मुसलमान को भी सज्जन से सज्जन हिन्दुओं की तुलना म. अपना समझता है। मौलाना मुहम्मद अली ने उसी को सिद्धांततः व्यक्त किया था, जो व्यवहारतः पूरी दुनिया का अनुभव है। हिंदू समाज म. ठीक उलटा है। इनम. सदाचरण को ही धर्म समझा जाता है, अतः अपराधियों, व्यभिचारियों ही नहीं, संदिग्ध आरोपियों के प्रति भी सामान्य हिन्दू दुराव रखता है, चाहे वह अपना संबंधी ही क्यों न हो। इस विपरीत मनोवृत्ति को ठीक से जाने बिना सांप्रदायिक विषय पर दोनों समुदायों की वास्तविक भूमिका, तुलनात्मक शक्ति और निर्बलता का आकलन किया ही नहीं जा सकता।

वह केवल मौलाना के वक्तव्य की बात न थी। डॉ. अंबेदकर ने तत्कालीन समाज के अपने अवलोकन से मुसलमानों द्वारा लगातार वही व्यवहार सामान्यतः करने

की पुष्टि की है। अध्याय 7 म. कट्टर मुसलमानों द्वारा कई प्रतिष्ठित और सम्मानित हिन्दुओं की हत्याओं का विवरण दिया है। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला नानकचंद, महाशय राजपाल आदि। जिनका अपराध यह था कि उन्होंने कुछ कहा या शुद्धि आंदोलन म. भाग लिया। फिर डॉ. अंबेदकर लिखते हैं, “यहाँ बहुत छोटी सूची दी गई है और इसे आसानी से और लंबा किया जा सकता है। परन्तु महत्त्व की बात यह है कि धर्मांध मुसलमानों द्वारा कितने प्रमुख हिन्दुओं की हत्या की गई। मूल प्रश्न है उन लोगों के दृष्टिकोण का जिन्होंने यह कत्ल किए। जहाँ कानून लागू किया जा सका, वहाँ हत्यारों को कानून के अनुसार सजा मिली; तथापि प्रमुख मुसलमानों ने इन अपराधियों की कभी निन्दा नहीं की। इसके विपरीत उन्हें. ‘गाजी’ बताकर उनका स्वागत किया गया और उनके क्षमादान के लिए आंदोलन शुरू कर दिए गए।” (पृ. 148)

केरल म. अगस्त, 1920 म. मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर की गई कुख्यात हिंसा के बाद भी कई मुस्लिम नेताओं ने वही किया था। उस संबंध म. डॉ. अंबेदकर लिखते हैं, “मालाबार म. मोपलाओं ने हिन्दुओं पर जो हृदय विदारक अत्याचार किए थे, वे अवर्णनीय हैं। समग्र दक्षिण भारत म. हरेक विचार के हिन्दुओं म. इनसे भय की एक भयानक लहर दौड़ गई थी और जब खिलाफत के कुछ पथभ्रष्ट नेताओं ने मोपलाओं को मजहब की खातिर की जाने वाली इस जंग के लिए बधाई दी, तब दक्षिण भारत के हिन्दू और भी उद्वेलित हो उठे।” (पृ. 148) उन अत्याचारों का कुछ विवरण डॉ. अंबेदकर ने पृ. 156 तथा पृ. 177 पर दिया भी है। वह केवल केरल की बात न थी। देश भर म. अन्य स्थानों पर भी वैसे कांड हुए।

हिन्दू नासमझी

मगर मोपला मुसलमानों द्वारा हिन्दुओं पर किए गए उन भीषण अत्याचारों पर गाँधी जी की प्रतिक्रिया को नोट करते हुए डॉ. अंबेदकर जो लिखते हैं, उसे भी याद करना चाहिए। क्योंकि कमोबेश वही रुख आज के सेक्यूलरवादी हिन्दू बौद्धिकों का है, जो गोधरा जैसे कांड करने वालों और विविध जिहादियों के बचाव म. कुतर्क करते फिरते हैं। मोपलाओं के कारनामों पर गाँधी जी की प्रतिक्रिया पर डॉ. अंबेदकर ने लिखा, “किन्तु श्री गाँधी हिन्दू-मुस्लिम एकता की जरूरत के बारे म. इतने ज्यादा सनकी हो चुके थे कि उन्होंने मोपलाओं के कारनामों और बधाई देने वाले खिलाफतवादियों की हरकतों को अनदेखा कर दिया। मोपलाओं के बारे म. उन्होंने कहा कि मोपला भगवान से डरने वाले बहादुर लोग हैं और वे उस बात के लिए लड़ रहे हैं, जिसे धर्म समझते हैं; और उसी तरीके से लड़ रहे हैं जिसे धार्मिक समझते हैं।” (पृ. 148-49) इस तर्क से आज अल कायदा और तालिबान के सारे कारनामे उचित हैं, जिनकी भर्त्सना नहीं की जा सकेगी। वास्तव म., आज भी अनेक हिन्दू बुद्धिजीवी कुछ उसी भाषा म. जिहादियों का बचाव करते हैं।

भारत भर के हिन्दुओं की स्थिति इस बात से समझी जा सकती है कि केरल म. हिन्दुओं पर मुसलमानों द्वारा किए गए उन 'अवर्णनीय अत्याचारों' पर कांग्रेस की मीटिंग म. बिलकुल मामूली-सा, जिसम. उन अत्याचारों का उल्लेख तक नहीं किया गया, न कड़ी भाषा का, वैसा निंदा प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पास नहीं हो सका। क्योंकि मुस्लिम नेताओं ने विरोध किया। हसरत मोहानी जैसे राष्ट्रवादी समझे जाने वाले मुस्लिम नेता ने भी "इस आधार पर विरोध किया कि मोपला इलाका अब 'दारुल अमन' नहीं रहा, बल्कि 'दारुल हरब' बन चुका है,... इसलिए मोपलों ने यह ठीक ही किया कि हिन्दुओं के सामने कुरान या तलवार का विकल्प रखा। इसलिए यदि हिन्दू अपने आप को मौत से बचाने के लिए मुसलमान बन गए तो इसे स्वेच्छा से धर्म-परिवर्तन कहा जाएगा न कि जबरन धर्म-परिवर्तन।" (पृ. 151)

इन प्रतिक्रियाओं से मुस्लिम मानसिकता और उसकी व्यावहारिक परिणति का प्रामाणिक आकलन मिलता है। यह सब तब होता था जब भारत म. मुस्लिम 23 प्रतिशत थे और हिन्दू 71 प्रतिशत। भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान और बांग्लादेश म. हिन्दू तेजी से समाप्त कर दिए गए। जबकि शेष बचे भारत म. मुस्लिम 10 प्रतिशत से बढ़कर 13 प्रतिशत पहुँच चुके हैं (स्वयं मुस्लिम नेता, इमाम बुखारी, रफीक जाकरिया आदि यहाँ मुस्लिम आबादी 16 प्रतिशत बताते हैं)। अतः हिन्दू और मुस्लिम समुदाय का वास्तविक सामाजिक बल, दोनों समुदाय की और उन के नेताओं की विपरीत मनोवृत्तियाँ और इन सबके तुलनात्मक परिणाम का यदि आकलन न किया जाए, तभी यह समझना कठिन होगा कि 'सांप्रदायिक हिंसा' रोकने के लिए जैसा एकतरफा कानून आज कांग्रेस की सर्वोच्च नेता की सलाहकार परिषद् ने प्रस्तावित किया है, जिसम. सदैव हिन्दुओं को उत्पीड़क और मुसलमानों को उत्पीड़ित मान कर चला गया है, जिसे दिग्विजय सिंह, लालू प्रसाद जैसे अनेक हिन्दू नेता निस्संकोच समर्थन दे रहे हैं, उससे कैसा अनर्थ होने वाला है!

मुस्लिम वैश्विक समुदाय हैं, अल्पसंख्यक नहीं

मुस्लिम समुदाय को भारत म. अल्पसंख्यक कहना हर तरीके से गलत है। आज संयुक्त राष्ट्र म. चलने वाली समझ से भी भारतीय मुस्लिम अल्पसंख्यक नहीं हैं। क्योंकि उसम. निरंतर उत्पीड़न, वैध अधिकारों म. कमी, आदि तत्त्व देखे जाते हैं। भारतीय मुस्लिमों को उलटे कुछ ऐसे विशेष अधिकार हासिल हैं, जो कई मुस्लिम देशों तक म. नहीं हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि स्वयं मुस्लिम नेता भी सचेत रूप से अपने को अल्पसंख्यक नहीं मानते। उलटे हिन्दुओं को ही 'दुनिया म. अल्पसंख्यक' मान कर धौंस देते हैं।

यह भावना पिछले सौ साल से बदस्तूर जारी है। यदि सार्वजनिक रूप से कुछ मुस्लिम नेता अपने को 'मायनॉरिटी' कह कर भाषणबाजी करते हैं, तो यह ग्रावामिन पॉलिटिक की ही एक अभिव्यक्ति है। मगर वास्तव म. वे स्वयं को दुनिया के दूसरे

सबसे बड़े समुदाय, जिसका 57 देशों में शासन है, का अभिन्न अंग मानते हैं। जब-तब मुस्लिम नेता अरब देशों का हवाला देकर धमकियाँ भी देते हैं, कि 'तेल की आपूर्ति बंद करा द.गे', आदि। स्वतन्त्रता पूर्व भारत में भी यह अंदाज था, जिसका डॉ. अंबेदकर ने आकलन किया है। उसमें सबसे उल्लेखनीय घटना है, जब सन् 1919 में भारतीय मुस्लिमों ने अफगानिस्तान को भारत पर हमला करने का निमन्त्रण दिया। डॉ. अंबेदकर ने नोट किया है कि गाँधी जी ने उसमें भी 'हिन्दू-मुस्लिम एकता की सनक के कारण' मुस्लिमों का साथ देने की घोषणा की। (पृ. 145)

डॉ. सैफुद्दीन किचलू ने भी लाहौर की एक सभा में मार्च 1925 में घोषणा की कि, "यदि आप (हिन्दू) हमारे तंजीम आंदोलन के मार्ग में बाधा डालेंगे और हमें हमारा अधिकार नहीं द.गे, तो हम अफगानिस्तान या अन्य मुस्लिम शक्ति के साथ हाथ मिलाएँगे और इस देश में अपना शासन स्थापित कर.गे।" (पृ. 271)

मौलाना आजाद सुभानी ने जनवरी, 1939 में बिना किसी यदि, किन्तु, के साफ ही कहा, "हमारी असली लड़ाई 22 करोड़ हिन्दुओं से है... यह भारत के 9 करोड़ मुसलमानों पर निर्भर करता है कि हिन्दुओं को शक्तिशाली बनाना है या कमजोर। अतः यह प्रत्येक धर्मपरायण मुस्लिम का कर्तव्य हो जाता है कि वह मुस्लिम लीग में शामिल होकर युद्ध करे, जिससे कि हिन्दू यहाँ जम न सकें और अंग्रेजों के यहाँ से जाते ही मुसलमानों का शासन स्थापित हो।" (पृ. 271)

एनी बेस.ट का आकलन

भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन की एक महान नेतृ, कांग्रेस अध्यक्षा और प्रख्यात विदुषी एनी बेस.ट ने अपने लंबे अनुभव से भारत की सामुदायिक स्थिति पर जो कहा था, उसे भी गंभीरता से ध्यान में रखना चाहिए। विशेषकर इसलिए क्योंकि वे ईसाई थीं और उन्हें यूरोपीय, अरब स्थितियों की जानकारी भी थी, जिससे उनके तुलनात्मक अवलोकन में और भी प्रमाणिकता आती है। भारत में उनका सार्वजनिक जीवन अत्यंत सम्मानित रहा, जिन पर कभी किसी दुराग्रह का आरोप नहीं लगा।

एनी बेस.ट के अवलोकन को डॉ. अंबेदकर ने अपनी पुस्तक के 12वें अध्याय में विस्तार से उद्धृत किया है, "खिलाफत जिहाद को बढ़ावा देने से भारत को पहुँची कई क्षतियों में एक यह भी है कि मुसलमानों के दिल में 'नास्तिकों' के प्रति नंगी और बेशर्मी की हद तक नफरत पैदा हुई जो कभी पहले होती थी। हम देखते हैं कि राजनीति में तलवार का वही पुराना मुस्लिम धर्म लोगों की भावनाओं को उकसा रहा है, हम देख रहे हैं शताब्दियों पुरानी वही मुस्लिम धर्म की श्रेष्ठता का दंभ। ... हमने मुसलमान नेताओं को यह कहते सुना है कि यदि अफगान भारत पर आक्रमण करे तो वे अपने धर्म को मानने वाले अफगानों की सहायता कर.गे और उन हिंदुओं की हत्या

कर.गे जो दुश्मनों से अपनी मातृभूमि की रक्षा कर.गे। हम. यह सोचने पर विवश कर दिया गया है कि मुसलमानों की पहली वफादारी मुस्लिम देशों के प्रति है, हमारी मातृभूमि के प्रति नहीं। ... मुस्लिम नेताओं का यह दावा कि मुसलमानों को अपने विशेष पैगम्बर के कानूनों का पालन करना चाहिए और अपने राज्य के कानूनों, जिसम. वे रहते हैं, को दरकिनार कर देना चाहिए, राष्ट्र और नागरिक व्यवस्था के लिए घातक है। यह उन्ह. बुरा नागरिक साबित करता है, क्योंकि उनकी निष्ठा का क.द्र राष्ट्र से बाहर है।” (पृ. 273)

एनी बेस.ट यह भी लिखती हैं कि जो मुसलमान ऐसे विचारों का विरोध करते हैं और देश-भक्ति की पैरोकारी करते हैं, उनकी धर्म-विरोधी कह कर हत्या कर दी जाएगी। इसी विन्दु पर एनी बेस.ट वह सत्य भी नोट करती हैं, जो आज के भारत के लिए भी यथावत् सत्य है कि “मुस्लिम शासित देशों की तुलना म. मुसलमान ब्रिटिश शासन म. ज्यादा स्वतन्त्र हैं। स्वाधीन भारत के बारे म. सोचते समय हम. मुस्लिम शासन के आतंक के बारे म. भी विचार करना होगा।” (पृ. 274-75)

ऐसा क्यों है

डॉ. अब्दुलकर ने सामुदायिक सन्दर्भ म. विस्तार से भारतीय परिदृश्य का आकलन करने, विभिन्न हिन्दू, मुस्लिम तथा अन्य नेताओं के विचार देने के साथ-साथ पूरी स्थिति पर अपना मत व्यक्त भी दिया है। वे लिखते हैं, “इस्लाम के सिद्धांतों म. एक सिद्धांत उल्लेखनीय है, जो कहता है कि उस देश म. जो मुस्लिम शासन म. नहीं है जब भी कभी मुसलमानों के कानून और उस देश के विद्यमान कानून के बीच विवाद उत्पन्न हो, तो इस्लामिक कानून को उस देश के कानून के ऊपर माना जाए।” (पृ. 294)

समस्या पैदा करने वाली दूसरी प्रवृत्ति डॉ. अब्दुलकर के अनुसार इस प्रकार है, “मुस्लिम धर्म के सिद्धांतों के अनुसार, विश्व दो हिस्सों म. विभाजित है दार-उल-इस्लाम तथा दार-उल-हर्ब। मुस्लिम शासित देश दार-उल-इस्लाम हैं। वह देश जिसम. मुसलमान सिर्फ रहते हैं, न कि शासन करते हैं, दार-उल-हर्ब है। मुस्लिम धार्मिक कानून का ऐसा होने के कारण भारत हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की मातृभूमि नहीं हो सकती है। यह मुसलमानों की धरती हो सकती है किन्तु यह हिन्दुओं और मुसलमानों की धरती जिसम. दोनों समानता से रह. नहीं हो सकती।” (पृ 296) डॉ. अब्दुलकर ने यह निष्कर्ष 1940 म. दिया था।

पिछले छह दशक के इतिहास ने पहले देश का विभाजन, फिर पाकिस्तान और बांग्लादेश म. हिन्दुओं के करुण भवितव्य ने इसे अक्षरशः प्रमाणित किया है कि भारत की धरती, पूरी या टुकड़े-टुकड़े तोड़ कर मुसलमानों की धरती तो होती गई, किन्तु उसम. हिन्दू नहीं रह सके। वही प्रक्रिया अन्यत्र इस पूरे इतिहास म. उत्पीड़क, हिंसक और क्रमशः, निरंतर जीतता हुआ कौन समुदाय है? यदि आज भारत म. समुदाय

आधारित कानून, समुदाय आधारित आरक्षण, आदि की तैयारी चल रही है तब समुदायों के संबंध म. यह पूरी वास्तविकता विचारणीय, चिन्तनीय क्यों नहीं बनती? इसके बदले उलटे एक संगठित, आक्रामक, विस्तारवादी, मजहबी मतवाद को ही 'हिंसा से पीड़ित' बताने जैसा कानून बनाने का प्रयत्न हो रहा है।

अपने निष्कर्ष की ओर बढ़ते हुए आगे डॉ. अब्दुलकर कहते हैं, "मुस्लिम धार्मिक कानून की दूसरी आज्ञा जिहाद है, जिसके तहत हर मुसलमान शासक का यह कर्तव्य हो जाता है कि इस्लाम के शासन का तब तक विस्तार करता रहे, जब तक सारी दुनिया मुसलमानों के नियंत्रण म. नहीं आ जाती। संसार के दो खेमों म. बाँटने की वजह से सारे देश या तो दार-उल-इस्लाम (इस्लाम का घर) या दार-उल-हर्ब (युद्ध का घर) की श्रेणी म. आते हैं। तकनीकी तौर पर हर मुस्लिम शासक का, जो इसके लिए सक्षम है, कर्तव्य है कि वह दार-उल-हर्ब को दार-उल-इस्लाम म. बदल दे; और भारत म. जिस तरह मुसलमानों के हिजरत का मार्ग अपनाने के उदाहरण हैं, वहाँ ऐसे भी उदाहरण हैं कि उन्होंने जिहाद की घोषणा करने से भी संकोच नहीं किया।" (पृ. 297) इस टिप्पणी को भी जल्द ही पाकिस्तान और बांग्लादेश म. हू-ब-हू चरितार्थ हुआ देखा जा सकता है, जहाँ मुस्लिम शासकों ने उसे दार-उल-इस्लाम म. बदल डाला।

दूसरी ओर, शेष बचे भारत म. जिहाद की घोषणाएँ ही नहीं, निरंतर आक्रामक कार्रवाइयाँ करते हुए अनगिनत इस्लामी संगठन सक्रिय रहे हैं। हिज्ब-उल-मुजाहिदीन, हरकत-उल-अंसार, लश्करे-तोएबा, सिमी, तबलीगी जमात, इंडियन मुजाहिदीन, आदि ने जो किया और कर रहे हैं, वह इस्लामी तर्कशास्त्र की दृष्टि से बिल्कुल सुसंगत है। इसलिए उनके प्रति मुस्लिम समुदाय का समर्थन और सहानुभूति भी सुसंगत है। शायद, इसम. यह भी जोड़ द. कि इन सबके प्रति जैसा रुख मणिशंकर अय्यर, दिग्विजय सिंह और लालू प्रसाद जैसे अनेक बड़े हिन्दू नेताओं ने अपनाए रखा है, वह भी उतना ही सुसंगत है जितना गाँधी जी का वह वक्तव्य जो उन्होंने मोपला मुसलमानों के कारनामों पर दिया था।

मुस्लिम नेताओं की तमाम उपर्युक्त प्रवृत्तियों को समेकित करते हुए डॉ. अब्दुलकर ने 'अखिल-इस्लामवाद' की संज्ञा दी। उसके प्रति हिन्दू नेताओं की भीरुता और नासमझी का भी उन्होंने जगह-जगह आकलन किया। माच पॉलिटिक और ग्रावामिन पॉलिटिक की विशेषताएँ बताते हुए उन्होंने उस नासमझी से उबरने का भी आग्रह किया। किन्तु विखंडित और अहंकार-ग्रस्त हिन्दू नेताओं ने कुछ नहीं समझा। उलटे गाँधी जी ने अपनी विचारधारात्मक जिद से लाखों हिन्दुओं को जिहादी मानसिकता के हवाले कर दिया और उन्हें खत्म हो जाने तक की सीख दे डाली।

संपूर्ण परिदृश्य पर डॉ. अब्दुलकर की निष्कर्षात्मक व्याख्या इस प्रकार है, "हिन्दू-मुस्लिम एकता की विफलता का मुख्य कारण इस अहसास का न होना है कि

हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो भिन्नताएँ हैं, वे मात्र भिन्नताएँ ही नहीं हैं और उनके बीच मनमुटाव की भावना सिर्फ भौतिक कारणों से ही नहीं है। इस विभिन्नता का स्रोत ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक दुर्भावना है, और राजनीतिक दुर्भावना तो मात्र प्रतिबिंब है।” (पृ. 336) जैसा सर्वविदित है, डॉ. अंबेदकर हिन्दू धर्म के कटु आलोचक थे। यहाँ भी उन्होंने लिखा कि हिन्दू और इस्लाम धर्म म. अनेक दोष हैं।

बंद निकाय की मानसिकता

उदाहरण के लिए, डॉ. अंबेदकर के अनुसार हिन्दू धर्म लोगों को बाँटता है। लेकिन साथ ही उन्होंने इसका खंडन किया कि इस्लाम लोगों को जोड़ता है। वे दृढ़ता से लिखते हैं कि इस्लाम मुसलमानों और गैर-मुसलमानों को निर्ममता से बाँटता है। यही सारी समस्याओं की जड़ है। डॉ. अंबेदकर के अपने ही शब्दों म., “इस्लाम एक बंद निकाय (‘क्लोज कॉरपोरेशन’) की तरह है, जो मुसलमानों और गैर-मुसलमानों के बीच जो भेद करता है, वह बिलकुल मूर्त और स्पष्ट है। इस्लाम का भ्रातृ-भाव मानवता का भ्रातृ-भाव नहीं है, मुसलमानों का मुसलमानों से ही भ्रातृत्व है। यह बंधुत्व है, परन्तु इसका लाभ अपने ही निकाय के लोगों तक सीमित है और जो इस निकाय से बाहर हैं, उनके लिए इसम. सिर्फ घृणा और शत्रुता ही है।” (पृ. 337)

यही वह बिन्दु है, जिसे भारत म. सारी सांप्रदायिक हिंसा, किसी समूह के विरुद्ध ‘लक्षित हिंसा’ का मूल माना जाना चाहिए। व्यवहार म. भी यह सर्वविदित है कि हिन्दुओं के साथ कभी पारसियों, यहूदियों, ईसाइयों की सांप्रदायिक हिंसा नहीं होती। दूसरी ओर, दुनिया भर म. मुस्लिमों की दूसरे सभी समुदायों के साथ हिंसा होती रहती है। इसलिए, सांप्रदायिक हिंसा का स्रोत और रोकने के उपाय पर सही दृष्टि अपनाने के लिए डॉ. अंबेदकर का अवलोकन अधिक उपयुक्त है।

डॉ. अंबेदकर के शब्दों म., “इस्लाम का दूसरा अवगुण यह है कि यह सामाजिक स्वशासन की एक पद्धति है और यह स्थानीय स्वशासन से मेल नहीं खाता, क्योंकि मुसलमानों की निष्ठा, जिस देश म. वे रहते हैं, उसके प्रति नहीं होती, बल्कि वह उस धार्मिक विश्वास पर निर्भर करती है, जिसका कि वे एक हिस्सा हैं।... दूसरे शब्दों म., इस्लाम एक सच्चे मुसलमान को भारत को अपनी मातृभूमि और हिन्दुओं को अपना निकट संबंधी मानने की इजाजत नहीं देता।” (पृ. 337)

इन अवलोकनों के साथ डॉ. अंबेदकर ने पाकिस्तान की माँग को इस्लामी विचारधारा की अनिवार्य परिणति समझा था। लगभग पाँच सौ पृष्ठों की उनकी यह पुस्तक सैद्धांतिक विश्लेषण, प्रमाणिक, सन्दर्भ-सहित विवरणों, वक्तव्यों और तर्कपूर्ण निष्कर्षों का बहुमूल्य संग्रह है। उन्होंने अपने को हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच

तटस्थ अवलोकनकर्ता के रूप में रखा था। पर देश के भवितव्य के प्रति डॉ. अंबेदकर तटस्थ नहीं थे। उन्हें भारत से प्रेम था। साथ ही, उन्हें किसी भी प्रकार के अन्याय, अत्याचार, आडंबर तथा अनर्थ से उतनी ही घृणा थी। इसी आलोक में उनकी सभी बातों पर गंभीरता-पूर्वक विचार करना चाहिए।

विशेषकर इसलिए, क्योंकि आज के भारत में सांप्रदायिक हिंसा और विविध सामाजिक, राजनीतिक, कानूनी, शैक्षिक विषयों में मुस्लिम शिकायतों की पूरी शृंखला अनिवार्यतः वही छवि प्रस्तुत करती है, जिस पर डॉ. अंबेदकर ने विचार किया था। जितने परिश्रम, सावधानी और बेबाकी से उन्होंने यह पुस्तक समय की माँग उठते ही प्रस्तुत की थी, वह हमारे विद्वानों और नेताओं के लिए एक उदाहरण है। आज हमारे विश्वविद्यालयी प्रोफेसर और बड़े राजनेता भी अतुलित सुविधाओं, सहायकों के साथ भी केवल संक्षिप्त बयानबाजी या लफ्फाजी से आगे नहीं जा पाते। हर कठिन प्रश्न पर बगल झाँकने लगते हैं, या प्रश्न उठाने वाले को ही 'सांप्रदायिक', 'फासिस्ट' आदि अपशब्द कह कर चुप कराने की कोशिश करते हैं।

मगर, भय, लोभ, अज्ञान या मूढ़ता के वशीभूत होकर राजनीतिक निर्णय लेना सामान्य जन-गण के लिए कितना महंगा पड़ता है, यह भारत के लोग निकट इतिहास में कई बार देख चुके हैं। उसकी और पुनरावृत्ति न हो, इसके लिए आवश्यक है कि हम डॉ. अंबेदकर की विद्वत-शैली और राजनीतिक खुलेपन के साथ कठिन प्रश्नों की चर्चा करें। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इन गुणों के कारण मुस्लिम नेताओं ने भी डॉ. अंबेदकर की कद्र की थी। उनकी इस पुस्तक पर तथ्यों की दृष्टि से किसी ने उँगली नहीं उठाई, क्योंकि इसमें लिखी एक-एक बात प्रामाणिक है।

कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता

शोभाकान्त झा*

गोस्वामी तुलसीदास का मानस सचेत मानस की रचना है, अतः वे अपने आपको, अपने समकालीनों और परवर्ती श्रोताओं, प्रवचन-कर्ताओं तथा रचनाकारों को सचेत करते हैं कि राम-कथा हो या कृष्ण-कथा या अन्य पौराणिक कथा वार्ता, उनका पुनराख्यान करते समय हम सबको सावधान रहना चाहिए। रचनाकारों को पुनः प्रस्तुत करते समय सचेत रहना चाहिए। कथा-संदर्भों को ठीक-ठीक समझकर, उनमें निहित आशयों को आत्मसात करके ही उन्हें कहना चाहिए, ताकि आस्थावान श्रोताओं पर उनका ठीक प्रभाव पड़े। समाज में भ्रांति न फैले, अर्थ का अनर्थ न हो जाए, कुछ का कुछ मतलब न लग जाए। यह सतर्कता, इसलिए और आवश्यक है कि आम श्रोता न उतने समझदार होते हैं न उतने जानकार कि कथा-प्रसंगों में निहित अनेकानेक आशयों को सही-सही समझ सकें। पुराण हो या साहित्य उनके कथा-संदर्भ एक साथ कई अभिप्रायों को समेटते हैं। सामान्य कथा-संदर्भ और कोशीय शब्द भी साहित्य में प्रयुक्त होकर विशिष्ट बन जाते हैं। काव्य में प्रयुक्त शब्द बहुअर्थी होते हैं “उपजत अनत-अनत छबि लहहीं”। उपमा, रूपक, प्रतीक, विंब आदि साहित्य-सरोकारी एकदेशीय और बहुदेशीय भी होते हैं। कथावाचक यदि ठीक से व्याख्या न करें तो सामने बैठे श्रोता कुछ भी समझकर भ्रम में पड़ सकते हैं, नाराज हो सकते हैं, लड़ सकते हैं। इसलिए वेदोपनिषदों के रहस्य को खोलने के लिए व्यास की आवश्यकता हुई। भगवान वेदव्यास को कहना पड़ता है कि “इतिहास पुरणाभ्यावेदं समुपवृंहयेत्।”

एक बार की बात है। रायपुर के गंज-प्रांगण में शरद पूर्णिमा के अवसर पर कवि-सम्मेलन में कविता पाठ हो रहा था। एक व्यंग्यकार ने भारत की गरीबी पर व्यंग्य करते हुए कहा कि कौन कहता है कि यहाँ एक ही महावीर हैं, जहाँ देखें वहाँ कोने-कोने में महावीर हैं। इस पर कुछ श्रोता भड़क उठे। उन्हें लगा कि यह कवि हमारे उपास्य महावीर का अपमान कर रहा है। जैसे-तैसे शांति स्थापित हुई, वरना कवि

* कुशालपुर, रायपुर-492001, छत्तीसगढ़

सम्मेलन का हथ्र क्या होता यह अनुमान लगाया जा सकता है। मेरा स्वयं का अनुभव कुछ ऐसा ही है। उद्घोषक के रूप में मैंने संस्था प्रमुख से निवेदन करते हुए कहा कि “जैसे भोज के बाद पत्तल उठाना और सभा के बाद दरी समेटना सुखद नहीं होता वैसे ही प्रायः लंबी सभा के अंत में धन्यवाद देना ऊबाऊ कार्य है। इस दुर्वह कार्य के संपादन के लिए मैं आपको आमंत्रित करता हूँ।” इस आमंत्रण से प्रसन्न होने के बजाय वे नाराज हो गईं। माफीनामा के साथ नाराजगी दूर हुई।

अब सोचिए जरा, जब पढ़े-लिखे श्रोता कथन का अर्थ कुछ का कुछ लगा सकते हैं तो अपढ़ और कम विवेकी श्रोताओं की समझ का अनुमान लगाया जा सकता है। अतएव बहुत जरूरी है, सचेत होकर कथा कहना और सुनना। जैसे पढ़ने का मतलब शब्दोच्चार नहीं है, समझते हुए पढ़ना है, वैसे ही कहने का आशय केवल कथन नहीं, कथा के संग उसके अभिप्राय का संप्रेषण है। कथा के कथ्य का संप्रेषण है। ठीक है कि रामायण, भागवत, पुराणादि के कथा-प्रवचन ने बहुतों को पवित्र रोजगार दिया है, परंतु उदर निमित्त कथा-वाचन करते हुए हम सबको समाज हित का ध्यान भी पहले रखना चाहिए। किसी से ठेस लगने वाली बात नहीं करनी चाहिए। कथा को अकथा या व्यथा-कथा न बनने दें। मूलकथा में बहुत सारी बातें ऐसी भी जुड़ी होती हैं जो कालातीत होती हैं, अपनी प्रासंगिकता वे खो चुकी होती हैं। उन्हें सुनना ही नहीं चाहिए। जो कथा-प्रसंग वर्तमान के लिए अप्रासंगिक हों, आकुल करने वाले हों दुष्प्रेरक हों, उन्हें काट-छाँटकर प्रस्तुत करना चाहिएतुलसी की तरह। बहुत सारे प्रक्षिप्त अंश भी कालक्रमानुसार मूल में जोड़ दिए जाते हैं, उनकी पहचान मुश्किल होती है, अतः जो भी कथा प्रसंग आज के लिए उचित न हो, उसे छोड़ देने में ही समझदारी है।

गोस्वामी तुलसीदास ने रामायण के बहुत सारे प्रसंगों को अपने युग के लिए उपयुक्त नहीं पाया और उनको रामायण में ही छोड़ दिया। उन्होंने मानस में ऐसे प्रसंगों को ही पुनः प्रस्तुत किया है, जिनसे वर्तमान और भविष्य का भला हो सके। मानस में कुछ अप्रिय पंक्तियाँ हैं, परंतु वे या तो प्रक्षेपण हैं अथवा प्रबंध वितान। वे वैसा अर्थ नहीं रखतीं जैसा कि सूक्तियों की तरह लोग उनके कुअर्थों को लेकर दुष्प्रचार करते हैं। मैं जब अपने घर में या बाहर जब भी हरितालिका व्रत-कथा, सत्यनारायण कथा या अन्य कथा कहने जाता हूँ तो डराने वाली या अप्रिय प्रसंगों का अर्थ छोड़ देता हूँ। इस काट-छाँट में निश्चय ही देवता मुझसे नाराज नहीं होते होंगे, क्योंकि ये काट-छाँट अनादर या स्वार्थ भाव से प्रेरित नहीं होतीं, परमार्थ प्रेरित होती हैं।

कथा वाचक को इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि कथा तो कथ्य को प्रस्तुत करने का एक रोचक माध्यम है। घटनाएँ प्रतीक हैं। प्रतीक संप्रेष्य को संप्रेषित करने का जरिया है। नजरिया साफ रखकर श्रोताओं के श्रद्धा-विश्वास और भक्ति-भाव को बढ़ाना चाहिए तथा उनके भय-भ्रांति को दूर करने की कोशिश की जानी चाहिए।

उत्साह, उत्कर्ष, उत्प्रेरण, उल्लासों से यजमान सहित विद्यमान श्रोताओं को भी भर दें। राम-कथा हो या कृष्ण-कथा, इसी ढंग से प्रस्तुत की जानी चाहिए। तुलसी स्वयं अपने को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं—“मंगल भवन अमंगलहारी” का गुण-गान प्रेरणास्पद बनाकर।

शिव पार्वती से राम-कथा कहते हैं। याज्ञवल्क्य भरद्वाज जी से, काकभुशुंडि गरुड़ से और तुलसी हम सबको रघुनाथ गाथा सुनाते हैं। सब सचेत होकर सुनाते-सुनते हैं। शिव जी पार्वती के संशय का निवारण करते हैं और उनका विश्वास बढ़ाते हैं। श्रद्धा को भक्ति की दशा तक पहुँचाते हैं। यही कार्य काकभुशुंडि करते हैं और तुलसी करते हैं। गिरिजा राम-कथा के अंत में स्वीकारती हैं

नाथ कृपाँ मम् गत संदेहा ।
राम चरन उपजेउ नव नेहा॥ (उत्तरकांड, 129)

शिव राम-कथा-श्रवण की फलश्रुति बताते हुए कहते हैं

सुनहू परम पुनीत इतिहासा ।
जो सुनि सकल लोक भ्रम नासा ।
उपजई रामचरन बिस्वासा ।
भव निधि तर नर बिनहिं प्रयासा॥
निज संदेह मोह भ्रम हरनी ।
करौँ कथा भव सरिता तरनी॥
बुध विश्राम सकल जन रंजनि ।
राम-कथा कलि कलुष विभंजनि॥ (उत्तरकांड, 55)

कथा-श्रवण समय काटना मात्र नहीं है और न मात्र मनोरंजन है, अपितु अपने भीतर निहित संशय, अश्रद्धा, चरित्रगत कमजोरियों से छुटकारा पाना है। अपने आस्था-विश्वास को बढ़ाना है। निराशा के बदले आशा का सौदा करना है। तुलसी स्वयं आश, विश्वास को सौदा करते हुए कहते हैं कि राम-कथा गूढ़ आशय से संयुक्त है। मैंने बार-बार गुरु-मुख से इसे सुना है, सचेत होकर विचार किया है। भगवत प्रदत्त जो बुद्धि-विवेक मेरे पास है, उसके आधार पर मैं कथा कहने जा रहा हूँ—खुद के संदेह, मोह, भ्रम आदि के निवारण के लिए

निज संदेह मोह भ्रम हरनी ।
करौँ कथा भव सरिता तरनी॥ (वा. 31)

मतलब यह कि कथा कहने वालों के लिए संकेत है कि पहले वे अपने संदेह, मोह, भ्रम का निवारण कर लें, कथा को पूरी तरह समझने का प्रयास करें, तब कहें। तभी वे श्रोताओं के भ्रम-संशय का निवारण कर सकते हैं।

यदि प्रवचनकार के लिए समझ, बुद्धि-विवेक और सतर्कता आवश्यक हैं, तो कमोवेश प्रवचन सुनने वालों के लिए भी। वे यदि अचेत, असावधान और मूढ़ हुए तो समझिए प्रवचन पत्थर पर वर्षा का पानी। बोध संपन्न श्रोताओं के लिए भी श्रद्धा और सतर्कता जरूरी है

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता)

तुलसी का मानना है किजो लोग श्रद्धा रहित हैं, अचेत हैं, रघुनाथ जी से नेह नहीं रखते, उन्हें कथा सुनने का लाभ नहीं मिल सकता, जिस लाभ के लिए कथा कही-सुनी जाती है।

जे श्रद्धा संबल रहित नहि संतन्ह कर साथ

तिन्ह कहूँ मानस अगम अति जिन्हहि न प्रिय रघुनाथ ॥

तात्पर्य यह है कि कथा रघुनाथ की हो या पुराण या कुरान की, श्रोताओं का मन उसके प्रति श्रद्धा, स्नेह, समझदारी और सावधानी के साथ जुड़ा हो तभी कथा-श्रवण फलदायक हो सकता है। रघुनाथ गाथा से मतलब समस्त उन नाथों की कथा से है, जो दीनों के नाथ हैं, दीनबंधु हैं, और सभी प्रकार के उपासकों के उपास्य हैं, यह समझना है और समझाना है।

कथा-श्रवण में समझदारी तभी है, जब वह श्रवण हमारे भीतर-बाहर को पावन बनावे। हमारे मनो-मालिन्य को दूर करे। हमें उदार और मानव स्नेही बनाए, मानवता द्रोही नहीं। कथा मूल्यान्वेषिणी होती है, मनोरंजिनी होती है, निर्मलकारिणी होती है, कथा, कथावाचक के लिए है, श्रोता के लिए है, तरने-तारने के लिए है, उबरने-उबारने के लिए है। रामायण हो या महाभारत, उसकी प्रासंगिकता या सार्थकता परिस्थितियों के यथावत चित्रण में नहीं, उन्हें अतिक्रांत करके मूल्यान्वेषण में है। अचेक कथा-श्रवण और कथन का ही दुष्परिणाम है कि हम तुलसीदास और कबीरदास जैसे संतों को वर्ग विशेष में बाँटकर देखने लग जाते हैं। तुलसीदास कथा-श्रवण और प्रवचन की सही समझ का संकेत देते हैं

श्रोता सुमति सुशील सुचि, कथा रसिक हरिदास।

पाई उमा अति गोप्यमपि, सज्जन करहिं प्रकाश ॥ (उत्तरकांड, 69-ख)

**उत्तर आधुनिकता :
बहुआयामी सन्दर्भ-नवता के प्रति प्रेरित**

रमेश दवे*

उत्तर आधुनिकता क्या आधुनिकता का नया संस्करण है? उत्तर-आधुनिकता क्या आधुनिकता के अन्त की उद्घोषणा है? क्या आधुनिकता एक गतिमान प्रत्यय है जो परम्परा से परम्परा तक नित नवीन यात्रा करता है? इस प्रत्यय के विरुद्ध उत्तर आधुनिकता को क्या नया प्रत्यय, नया विचार या परम्परा की निरन्तरता कहा जा सकता है? ऐसे अनेक प्रश्न पैदा होते हैं पाण्डेय शशिभूषण शीतांश की पुस्तक 'उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी सन्दर्भ' को पढ़कर। आज जब उत्तर आधुनिकता अनेक आयामों के साथ बौद्धिक-विमर्श के केन्द्र में है तब अनेक विमर्शक उत्तर-आधुनिकता को केवल कुछ परिवर्तनकारी अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। अधिकांश के लिए 'स्त्री-विमर्श' ही उत्तर आधुनिकता है। कुछ बुद्धि-व्यवसायी इसे राजनीति और मीडिया से जोड़कर देखते हैं और मानते हैं जैसे दृश्य मीडिया ने किताब का अन्त कर दिया हो, समाचार-पत्रों का अन्त कर दिया हो और अपने लिए सनसनी भरा सूचना-संचार तन्त्र पैदा कर लिया हो।

नवता, पुराने का परित्याग ही नहीं होती, बल्कि कभी-कभी प्राचीन या अतीत को पुनर्नवा भी करती है। नवता जिज्ञासा है, चिन्तन, अध्ययन और शोध का एक प्रेरक तत्त्व भी है। क्रान्तियों के हिंसक दौर के पश्चात जब मार्क्स ने अपना विचार दिया तो वह फ्रायड, युंग, एडलर की नवता से पृथक नवता थी, जो सामाजिक जीवन

* पुस्तक : उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी सन्दर्भ, लेखक : पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', प्रकाशक : लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, मूल्य : 350/-

**रमेश दवे, संपादक पूर्वग्रह, भारत भवन, भोपाल; संपर्क : एस.एच 19 ब्लॉक-8, सह्याद्रि परिसर, भदभदा रोड, भोपाल (म. प्र.); फोन : 0755-2777048, मो. 09406523071

को शोषण-मुक्त समता का विचार देती थी। काफ़का जब *मेटामारफोसिस* या *द कासल* लिखता है तो प्रचलित फिक्शन में एक बड़ा हस्तक्षेप करता है और अनेक सैद्धांतिक प्रतिबन्धों को खंडित करता है। देरिदा जब विखण्डन के सूत्र लेकर आता है तो भाषा, साहित्य सबको एक नई चुनौती मिलती है। इसी प्रकार उत्तर आधुनिकता ने जब आधुनिकता को नवता प्रदान की तो इस नवता से साहित्य, मनुष्य, भूमण्डल, पर्यावरण, बाजार, दृश्य-श्रव्य माध्यम आदि सबको देखने के नए नए सन्दर्भ पैदा हुए। शीतांशु जी ने इन्हीं सन्दर्भों को व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है।

वैसे तो उत्तर आधुनिकता पर सुधीश पचौरी ने भी काम किया है लेकिन 'सृजन का अन्तर्पाठ-उत्तर आधुनिक विमर्श', 'उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य', 'हिन्दी आलोचना का उत्तर आधुनिक विमर्श' उत्तर आधुनिकता पर केन्द्रीय विमर्श है वहीं 'दलित साहित्य-बुनियादी विचार' और 'हिन्दी का आलोचना पर्व' पालीवाल जी की ऐसी पुस्तकें हैं जो न केवल उत्तर आधुनिकता बल्कि आलोचना की गति, प्रगति, सैद्धांतिकी और व्यवहारिकी से भी परिचित कराती है। शीतांशु जी की यह पुस्तक और अधिक सन्दर्भों के साथ शोधपरक बन पड़ी है। अधिकांश आलोचक शोध को प्रतिशोध की तरह देखकर उसे अकादमिकता, शुष्कता और कल्पनाहीनता के आरोप के साथ निरस्त करते हैं लेकिन यदि शोध प्रामाणिक हो, नवता के प्रति प्रेरित करता हो, तो वह साहित्य के समग्र की उदात्त समझ को भी प्रस्तावित करता है। इसलिए इस पुस्तक को उसी नवता की जिज्ञासा से पढ़ा जाना चाहिए।

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' के पास साहित्य और भाषा-विज्ञान का जो संयुक्त अनुभव-लोक है, वह उन्हें सदैव विचार-सम्पन्नता और नवता के प्रति प्रेरित करता रहा है। प्राध्यापकीय अध्ययन-वृत्ति, अध्यापन की आवश्यकता से निर्धारित होती आई है और अकादमिक रूप से शोध-परक भी रही है। इस मनोदशा में जीते हुए भी जब किसी शोध-आकुल मन में नवाचार की लहर उठती है तो प्राध्यापकीय मन सर्जनात्मक भी हो जाता है और अपने समय की समस्त विचार-सरणियों की चुनौतियों से टकराने के लिए उद्यत हो जाता है। 'उत्तर आधुनिकता-बहुआयामी सन्दर्भ' प्रो. शीतांशु की ऐसी कृति है, जो उत्तर आधुनिकता सम्बन्धी अनेक भ्रान्त धारणाओं को निरस्त करते हुए, उत्तर आधुनिकता के परिप्रेक्ष्यों को स्पष्ट करती है। यह पुस्तक ज्ञान और शोध की श्रमनिष्ठ कृति है। जब भी कोई नया विचार आता है तो अधिकांश अध्येता अपने पुरानेपन की स्मृति का नास्टेलजिया या मोह पाल लेते हैं। आधुनिकता ने जितने भी आयाम रचे थे वे सब सर्वप्रथम धर्म की सत्ता से, वैचारिक जड़ताओं से और समाज-व्यवस्था की अराजकता से टकराए थे। जब से पूँजी, उद्योग, विकास, उपभोक्ता, उत्पाद जैसे शब्द आधुनिकता के कोश से बाहर आए, आधुनिकता अनेक स्वरूपों में प्रकट होने लगी। राजनीति, अर्थशास्त्र, साहित्य, कला, समाजशास्त्र सब आधुनिकता

के अपने अपने अर्थों में नई विचार-शृंखला रचने लगे। पूँजीवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता आदि विचार इसी आधुनिकता की उपज थे।

शीतांशु जी ने आधुनिकता की इस इतिहास-गाथा से अपने को मुक्त करते हुए, उत्तर आधुनिकता के सन्देहों, डरों, आशयों और विचार की गति को जिस प्रकार बौद्धिआ, ल्योतार, देरिदा, जेम्सन, अलथ्यूसर आदि के सन्दर्भ से स्पष्ट किया है, उससे यह भी लगता है कि उत्तर आधुनिकता के समस्त आयाम उस आधुनिकता से अधिक मानवीय और अहिंसक हैं, जिस आधुनिकता ने शस्त्रों की होड़, हिंसा और महायुद्ध रचे थे, पूँजीवादी व्यवस्था ने आम आदमी का गरीबीकरण किया था जिसका प्रतिफलन वर्ग-संघर्ष और द्वंद्व में हुआ था। इसलिए प्रो. शीतांशु की दृष्टि में उत्तर आधुनिकता विचार, परिस्थिति, स्वभाव आदि में निर्धारित न होकर मनुष्य की समस्त जीवन-प्रणालियों में निहित है, उसके सतत परिवर्तनगामी और नव्य होने में निहित है।

प्रो. शीतांशु ने उत्तर आधुनिकता का स्रोत वास्तु-कला या स्थापत्य को माना है। यह कोई नई बात नहीं है। जब मलार्मे, पॉल वेलरी, पाउंड, जार्ज स्टीफन आदि ने प्रतीक और बिम्ब को आधुनिक-काव्य-प्रयोगों में समाहित किया तो प्रतीक, बिम्ब, दादावाद, क्यूबवाद आदि सभी कलाविचार स्थापत्य से आए थे जो अंततः काव्य में भी प्रविष्ट हो गए। शीतांशु जी ने इस पुस्तक की रचना एक ऐसे विश्लेषक के रूप में की है जिसके पास भाषा-विज्ञान और शैली-विज्ञान का प्रचुर ज्ञान है जो साहित्यिक प्रयोगों, विचलनों और परिवर्तनों से परिचित है। बौद्धिआ, ल्योतार, देरिदा या इस धारा के समस्त संरचना-विसंरचनावादी, विचारक बहुत सामान्य और सरल नहीं हैं। उन्हें पढ़ना, पढ़ने की भी चुनौती है और जैसा कि विटगेन्स्टाइन मानता है समझना कोई मामूली काम नहीं है क्योंकि एक पाठक जब किसी रचना को समझने की बात करता है तो उसे 'समझने' को भी 'समझना' आना चाहिए। पुस्तक में उत्तर आधुनिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध जो आलोचक रहे हैं, उनके लिए भी प्रो. शीतांशु ने अपने उत्तर रचे हैं।

आज भी अनेक सर्जकों के बीच उत्तर आधुनिकता केवल भूमण्डलीकरण का एक नया बौद्धिक संस्करण बन कर रह गया है, जबकि उत्तर आधुनिकता ने भाषा, साहित्य, कथा-साहित्य, नाटक, कलाएँ और सिनेमा के अनेक रूढ़ सिद्धांतों को उनके स्थापित आसनों से अपदस्थ कर विचार का नया अथवा ब्रह्माण्डीय अवकाश खोजा है। आज की बौद्धिक-चेतना प्रश्नाकुल और संशय-ग्रस्त है। भाषा भी अपनी जड़ता का कारावास त्यागना चाहती है। यह काम प्रूस्त, वर्जीनिया वुल्फ, जेम्स ज्वायस, सेम्युअल बेकिंट ने फ्रेंच और अंग्रेजी में तो कर दिया था जिसका एक उद्दाम आवेग मेक्सिको के मार्क्वेज, इटली के इटालो कैल्विनो और अम्बर्टो इको में भी दिखाई देता है और लगभग ऐसा ही काम कृष्ण बलदेव वैद, कृष्णा सोबती और मनोहर श्याम

जोशी ने हिन्दी में करके हिन्दी को संरचना-मुक्त खेल-भाषा बनाकर सर्जनात्मकता का सौंदर्य रचा। राजी सेठ जब अपनी संवेदना का मानवीय रूपान्तरण करती हैं, तो उनकी दर्शन-प्रज्ञा भाषा का एक नया संगीत रचती है जो उत्तर आधुनिकता का ही एक आयाम है। यही काम रमेशचंद्र शाह भी अपने उपन्यासों में करते हैं। कथा-साहित्य में यद्यपि उत्तर आधुनिकता का भाषाई खेल और शिल्पगत विचलन कहानियों तक पश्चिम में सीमित रहा, लेकिन मेटा-नरेटिव के अंत के बावजूद वहाँ पल्प-साहित्य या पल्प-उपन्यास आए। इसलिए यह कहा जा सकता है कि उपन्यासों में भी उत्तर आधुनिकता ने वे ही हस्तक्षेप किए जो स्त्रीवाद, कहानी, नाटक, फिल्म या संगीत में किए।

प्रो. शीतांशु ने पुस्तक में प्राध्यापकीय या अकादमिक आलोचना के जो आरोप तथाकथित सर्जक या सर्जनात्मक लेखक लगाते हैं, उनकी मान्यताओं को अपनी अकादमिक-शैली से ही ध्वस्त करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि अकादमिक लेखन कोई दोयम दर्जे का नहीं होता बल्कि वह तो शोधपरक और अनुशासित होता है और मौलिकता के नाम पर किसी भावुकता का परिचायक भी नहीं होता। गंभीर लेखन, गंभीर चिन्तन और अध्ययन की ही परिणति होता है। यह बात अलग है कि हिन्दी की नई पीढ़ी के अधिकांश आलोचक-समीक्षक या लेखक गहन अध्ययन की अकादमिक नैतिकता से विमुख हुए हैं, लेकिन जो अकादमिक लेखन को गंभीर अनुशासन के रूप में लेते हैं, उनका लेखन तेजस्वी भी है। इसलिए अकादमिक लेखन को दोयम दर्जे का कह कर उसका सलीकरण या सामान्यीकरण करना उचित नहीं है।

इस पुस्तक की एक और विशेषता यह है कि प्रो. शीतांशु ने उत्तर आधुनिकता के पूर्व सन्दर्भ, आलोचनात्मक-सन्दर्भ, तुलनात्मक और चिन्तनीय सन्दर्भ के साथ ऐसे सोलह चिन्तकों को अत्यन्त संश्लिष्ट रूप से प्रस्तुत किया है जिनका उत्तर आधुनिक विचार और विमर्श में महत्त्वपूर्ण अवदान है। इनके अतिरिक्त स्त्रीवादी, मार्क्सवादी, उत्तर मार्क्सवादी और बहुआयामी सन्दर्भ देकर उत्तर आधुनिक विमर्श के उन हस्तक्षेपों को भी स्पष्ट किया है जिनका प्रवेश तो आधुनिकता में हो चुका था लेकिन आधुनिकता की धारा से आगे जाकर इन वैचारिक हस्तक्षेपों के कारण हमारे समय का समूचा चरित्र ही बदला। अब हम अपनी स्थानीयता को भी भूमण्डलीयता में जीते हैं, लिखते हैं। इसलिए भूमण्डलीय जितना वैश्विक है, उतना ही स्थानीय भी। विचार की कोई स्थानीयता होनी भी नहीं चाहिए। यही कारण है कि ल्योतार, बौद्रिआ, देरिदा, फूको, रोटी, पिनचान आदि से लेकर यह सोलह विचारकों की सूची स्थानीय होकर भी विचार का उत्तर आधुनिक भूमण्डल रचती है। यदि यहाँ सृजन साण्टेग की 'अगेन्स्ट दी इन्टरप्रिटेसन', थियरी, वाल्टर बेंजामिन की मार्क्सवादी समीक्षा और एडवर्ड सैड एवं एजाज अहमद की भी उत्तर आधुनिक सोच को दे दिया जाता तो पुस्तक और

अधिक समग्र हो सकती थी फिर चाहे आकार-भय से मुक्त होने के लिए स्त्रीवाद, मार्क्सवाद आदि के सन्दर्भ न भी दिए जाते तो पुस्तक के सूचना-विधान पर कोई फर्क नहीं पड़ता।

पूर्व-सन्दर्भ तो पृष्ठभूमि और कुछ सर्जनात्मक उदाहरण के साथ एक प्रस्तावना है। आलोचनात्मक सन्दर्भ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सैद्धांतिकी का उत्तर आधुनिक विवेचन है और 'चाक्षुषता' एवं 'श्रवणीयता' का भी महत्त्व उनके उत्तर आधुनिक सन्दर्भ में रेखांकित किया गया है। जहाँ तक सर्जनात्मक आलोचनात्मक सन्दर्भ का प्रश्न है यहाँ उदय प्रकाश की कहानी, 'वारेन हेस्टिंग्स का सांड' के माध्यम से जिस प्रकार का ऐतिहासिक विचलन किया गया उसकी उत्तर आधुनिकता का भी जिक्र है। आलोचना के सारे सन्दर्भ केवल साहित्य से ही नहीं आते बल्कि संगीत, पेंटिंग, स्थापत्य, मंचन आदि भी किस प्रकार आलोचना को सर्जनात्मक बनाते हैं, यह भी स्पष्ट किया गया है। तुलनात्मक सन्दर्भ गतिशीलता और परम्परा का जो हाशियाकरण आधुनिकता ने किया था और उसके विसर्जन और भूमण्डलीय प्रमाद को जिस प्रकार उत्तर आधुनिकता ने पहचाना, यह पढ़कर लगा जैसे आधुनिकता और उत्तर आधुनिकता के बीच समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि साहित्येतर विषय कैसे साहित्यिक टकराहट पैदा कर सकते हैं। यहाँ सैन्यशक्ति, शून्यवाद और नीत्शे के पुराने रूपों के फासीकरण का भी विवेचन है जो नीत्शे के मूल चरित्र को उद्घाटित करता है। उपभोगितावादी संस्कृति और मनुष्य के वास्तुजगत की सामाजिक व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में समीक्षा भी यहाँ प्रस्तुत की गई है।

जब हम उत्तर आधुनिक सिद्धांतकारों और विमर्शकों पर विचार करते हैं तो ल्योतार ने उत्तर आधुनिक विचार किस प्रकार इहाब-हसन से ग्रहण किया था और अधि-वृत्तांत के प्रति सन्देह या अविश्वास व्यक्त किया था, वे तत्त्व भी स्पष्ट होते हैं। यहाँ ल्योतार अपने अल्जीरियाई उपनिवेशवाद की बुराइयों के अनुभव के साथ भी उन आवेशों की पहचान करते हैं जो बौद्धिआ, जेम्सन ने अधियथार्थ और नवपूँजीवाद को लेकर प्रकट किए थे और रीगनवादी हिंसक बौद्धिकता के विरुद्ध बेचैनी जाहिर की थी। ल्योतार की समूची सैद्धांतिक आलोचना को यह अध्याय समझने में मदद करता है। बौद्धिआ का विश्व 'उत्तर आधुनिक' 'अधियथार्थ' का विश्व है जिसमें मनोरंजन, सूचना, संप्रेषण, प्रौद्योगिकी आदि किस प्रकार मौजूद हैं, इसे सन्दर्भों के साथ यहाँ व्यक्त किया गया है। इसके लिए आधुनिक-उत्तर आधुनिक की सैद्धांतिक पृथकता को सूचीबद्ध भी किया गया है।

देरिदा के चिन्तन सन्दर्भ में बौद्धिक (नोएटिक) और अबौद्धिक (निओमेटिक) और हसलियन दर्शन को बहुत हद तक शीतांशु जी ने पठनीय बना दिया है और देरिदा के वे समस्त विचार प्रस्तुत किए हैं और संरचना-विसंरचना के साथ डिफरेंस के दो

पृथक हिस्से तक लेखन से जोड़े गए हैं। रोलां बार्थ के द्वारा लेखक की मृत्यु और पाठ के महत्त्व का कैसे प्रतिपादन किया गया, क्लासिक्स कृति को कैसे चुनौती दी गई यह बार्थ के तीन आलेखों के सन्दर्भ में यहाँ प्रस्तुत है।

फ्रेडरिक जेम्सन, ग्राम्शी, अम्बर्टो इको, रिचर्ड रोटी के साथ अन्य अनेक उत्तर आधुनिक यहाँ प्रस्तुत किए गए जिनसे उत्तर आधुनिकता की सामाजिक, आर्थिक, भाषिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अनेक धाराएँ भूमण्डलीय सन्दर्भ में, नवपूँजीवाद, मार्क्सवाद, स्त्रीवाद आदि के साथ प्रकट होती हैं, लेकिन अम्बर्टो इको, इटेलो केल्विनो को छोड़ दें, तो उत्तर आधुनिकता के सन्दर्भ में उन सर्जकों के कोई सन्दर्भ नहीं हैं जो भले ही पल्प-रचनाएँ करें उनका अपना एक कागजी और कागजमुक्त सायबर संसार तो है ही। फूको का चिन्तन अवश्य हमें विचलित करता है और रोटी की भाषा खेल की अवधारणा जो लगभग ल्यौतार के करीब है, वह भी इन सन्दर्भों से स्पष्ट होती है। शीतांशु जी ने इस पुस्तक को अधिक सूचनात्मक बनाने की खातिर उत्तर आधुनिक अध्ययन की टेक्स्ट बुक तो इसे बना दिया है, लेकिन उनके अध्ययन का फलक इतना विस्तृत है कि वे चाहते तो प्रत्येक उत्तर-आधुनिक विचारक पर एक एक मोनोग्राफ रच सकते थे।

‘उत्तर आधुनिकता : बहुआयामी सन्दर्भ’ अध्ययन, अध्यापन और शोध की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है और उत्तर आधुनिक विचार या वृत्ति में प्रवेश का प्रारंभिक द्वार भी है लेकिन यदि शीतांशु जी जरा पुस्तक की शब्दावली सहज रूप से ग्रहणीय बना देते तो अवधारणाओं को समझने में अधिक सुविधा होती, ऐसे अध्येताओं के लिए जो उत्तर आधुनिकता को उसके बहुआयामी सन्दर्भ में पढ़कर शोधप्रवृत्त होना चाहते हैं।

गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद

वरुण कुमार तिवारी*

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 150 वें जयन्ती वर्ष एवं उनकी 'गीतांजलि' की प्रकाशन शतवार्षिकी के विशेष अवसर पर डॉ. देवेन्द्र कुमार देवेश की शोध-आलोचनात्मक कृति 'गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद' का प्रकाशित होना निश्चय ही सुखद है। 'गीतांजलि' बांग्ला में रचित रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 157 गीति रचनाओं का संग्रह है, जिसके गीत आध्यात्मिक प्रकृति के हैं। ये आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों को उद्घाटित करते हैं। अधिकांश गीतों में सम्बोध्य परमात्मा ही हैं।

'गीतांजलि' को विशेष ख्याति तब मिली, जब स्वयं कवि द्वारा इसके अधिकांश गीतों के अंग्रेजी गद्यानुवाद की प्रस्तुति 'गीतांजलि' (सॉन्ग आफरिंग्स) नामक पुस्तक के रूप में हुई। स्वीडिश अकादमी द्वारा 13 नवम्बर, 1913 ई. को नोबेल पुरस्कार दिए जाने की घोषणा के उपरान्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर देश-विदेश में प्रसिद्ध हो गए। ब्रिटिश सरकार ने भी उन्हें 'नाइटहुड' प्रदान की, जिसे उन्होंने जलियाँवालाबाग हत्याकांड के विरोध में वापस लौटा दिया था। नोबेल पुरस्कार की घोषणा के बाद से ही देशी-विदेशी भाषाओं में शीघ्रता से 'गीतांजलि' के अनुवाद प्रकाशित किए जाने लगे।

विवेच्य शोधकृति 'गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद' में शोधकर्ता डॉ. देवेश ने 'गीतांजलि' के 38 अनुवादों और दस देवनागरी लिप्यन्तरो का सम्यक् परिचय एक साथ प्रस्तुत किया है। 'गीतांजलि' के दस गद्यानुवादों और अठारह पद्यानुवादों को उनके बांग्ला और अंग्रेजी पाठ के साथ एक जगह उद्धृत एवं अनुवादों की तुलना करते

*समीक्षक : डॉ. वरुण कुमार तिवारी, भारतीय स्टेट बैंक कॉलोनी, वीरपुर 854340 (बिहार)

**समीक्षित कृति : गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद (शोध-आलोचना), लेखक : डॉ. देवेन्द्र कुमार देवेश, पृष्ठ : 220, मूल्य : 295/- रुपये, प्रथम संस्करण : 2011

प्रकाशक : विजया बुक्स, 1/10753, सुभाष पार्क, गली नं. 3, नवीन शाहदरा, दिल्ली 110032

हुए उन्होंने जो निष्कर्ष दिए हैं, उससे तुलनात्मक साहित्य की कई बेहतरीन चीजें उजागर हुई हैं। पुस्तक की भूमिका में तुलनात्मक साहित्य के समादृत विद्वान डॉ. इन्द्रनाथ चौधरी ने कृति के वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए लिखा है कि “नोबेल पुरस्कार प्राप्त रवीन्द्रनाथ ठाकुर को ‘गीतांजलि’ के बांग्ला और अंग्रेजी पाठ के साम्य और वैषम्य पर हिन्दी में पहली बार समुचित विमर्श इस पुस्तक के माध्यम से सुधी पाठकों को उपलब्ध हुआ है। अंग्रेजी अनुवाद सम्बन्धी विवाद पर भी हिन्दी में इतनी प्रभूत सामग्री इतने प्रामाणिक ढंग से पहली बार प्रस्तुत हुई है तथा इसमें निर्विवाद रूप से यह प्रमाणित किया गया है कि अनुवाद में रवीन्द्रनाथ ने येट्स या अन्य मित्रों के सुझावों का ध्यान अवश्य रखा है, लेकिन अनुवाद पूर्णतया उन्हीं के द्वारा किया गया है।...हिन्दी में किसी एक कृति के समस्त हिन्दी अनुवादों के एक साथ तुलनात्मक अध्ययन का यह एक विशेष प्रयास है और सम्भवतः प्रथम है।”

लेखक द्वारा हिन्दी अनुवादों के तुलनात्मक विश्लेषण के सम्बन्ध में पुस्तक के दूसरे भूमिका लेखक और ‘गीतांजलि’ के हिन्दी अनुवादकों में से एक डॉ. रणजीत साहा ने टिप्पणी की है कि “यहाँ पाठाधारित अनुवाद और भावानुवाद के निकष पर गीतों का विवेचन करते हुए लेखक की दृष्टि मूल में संरक्षित या निहित अभिव्यंजना पक्ष पर रही है। साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया गया है कि मूल से समीक्ष्य अनुवादों के भाव, भाषा, शैली और प्रभाव को अन्तरित या सम्प्रेषित करने में अनुवादकों को कितनी सफलता मिली है।...शब्द प्रयोग, भाव निर्वाह, शिल्प और शैली (बिम्ब, उपमान, प्रतीक, अलंकार, छन्द एवं लय आदि काव्य के स्वीकृत तत्त्वों या घटकों को आधार बनाकर देवेश ने अपना अध्ययन प्रस्तुत किया है।”

लेखक की सूचना के अनुसार ‘गीतांजलि’ के अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाला पहला व्यवस्थित काम ‘गीतांजलि के हिन्दी अनुवादों का अध्ययन’ शीर्षक से श्री शशिप्रकाश चौधरी द्वारा 1988 में एम. फिल. के लिए लिखित शोधप्रबन्ध तथा दूसरा काम श्रीमती शकुन्तला मिश्र द्वारा 1992 में पी-एच. डी. के लिए लिखित शोधप्रबन्ध ‘रवीन्द्र-साहित्य के हिन्दी अनुवादों का आलोचनात्मक सर्वेक्षण’ के अन्तर्गत ‘गीतांजलि के हिन्दी अनुवाद’ शीर्षक अध्याय के रूप में प्राप्त होता है। इस तरह लेखक की यह शोधकृति उक्त दोनों अध्ययनों की अगली कड़ी है।

आठ अध्यायों में विभाजित प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम अध्याय में अध्ययन की पृष्ठभूमि एवं अपरिहार्यता पर प्रकाश डाला गया है। लेखक ने ‘गीतांजलि’ के अनुवादों का विवरण दिया है। उनके अनुसार 1913 ई. में अंग्रेजी ‘गीतांजलि’ के अनुवाद डेनिश, स्वीडिश और रूसी भाषाओं में हो चुके थे, जबकि 1914 ई. में इसके अनुवाद फ्रांसीसी, जर्मन, इतालवी, डच, चेक, चीनी और उर्दू भाषाओं में प्रकाशित हुए। 1915 ई. में इसके अनुवाद जापानी, हिन्दी, तमिल एवं तेलुगु में प्रकाशित हुए। बाद में मराठी, गुजराती, पोलिश, स्पानी, मलयालम, ग्रीक, हंगरी, हिब्रू, रोमानियाई, स्लोवेन,

लिथुवार्ड, नेपाली, संस्कृत, पंजाबी, तुर्की, सिन्धी, कन्नड आदि भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हुए।

लेखक ने अंग्रेजी 'गीतांजलि' पर येट्स, एजरा पाउंड आदि विदेशी विद्वानों के विचारों का भी उल्लेख किया है। येट्स ने इसे चौसर की परम्परा को आगे बढ़ानेवाली विस्मयों से परिपूर्ण कृति कहा है। एजरा पाउंड ने रवीन्द्रनाथ की 'जीवन संवेदना' कहा है। पार हॉल्सट्राम ने स्वीडिश एकेडमी की नोबेल पुरस्कार समिति को दिए गए अपने संस्तुति प्रतिवेदन में लिखा, "...स्वयं कवि द्वारा अंग्रेजी में अनूदित कविताओं का यह लघु संकलन विस्मयकारी ढंग से ऐसे समृद्ध और मौलिक काव्यात्मक प्रभाव पैदा करता है कि इसे पुरस्कृत करने के प्रस्ताव में कुछ भी असंगत या मूर्खतापूर्ण नहीं है, क्योंकि जहाँ तक इसकी श्रेष्ठता का सवाल है, यह एक श्रेष्ठ कृति है।"

'गीतांजलि' के हिन्दी अनुवादों के समुचित विमर्श की अपरिहार्यता के सम्बन्ध में लेखक का तर्क है कि 'गीतांजलि' दो भाषाओं में, वरन् भाषा की दो शैलियों पद्य और गद्य में रचित है। इसलिए अनुवाद भी दोनों ही शैलियों में उपलब्ध हैं। अनुवाद का आधार भी बांग्ला और अंग्रेजी दोनों ही हैं। साथ ही, 'गीतांजलि' की रचना और इसके अनुवादों का काल प्रायः एक शताब्दी तक विस्तृत है और इसलिए इसके अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी भाषा और भाषायी समझ के लगभग एक सदी के क्रमिक विकास के अध्ययन का अवसर भी उपलब्ध कराता है।

द्वितीय अध्याय में लेखक ने रवीन्द्रनाथ के अनुवाद सम्बन्धी विचार तथा 'गीतांजलि' के अंग्रेजी एवं बांग्ला पाठों पर तुलनात्मक विमर्श प्रस्तुत किया है। यहाँ लेखक ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा हिन्दी पाठकों के भ्रम-निवारण का उल्लेख किया है। आचार्य द्विवेदी ने लिखा था कि "हमारे पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि अंग्रेजी 'गीतांजलि' और बांग्ला 'गीतांजलि' एक ही नहीं है। 'गीतांजलि' प्रकाशित होने तक कवि की जितनी कविताएँ प्रकाशित हुई थीं, उनमें से कुछ चुनी हुई कविताओं का अंग्रेजी अनुवाद ही 'गीतांजलि' है।" अंग्रेजी 'गीतांजलि' में रवीन्द्रनाथ ने अपने 103 गीतों का अंग्रेजी गद्यानुवाद प्रस्तुत किया है, जिनमें से 53 बांग्ला 'गीतांजलि' से तथा अन्य विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं से चयनित हैं।

अंग्रेजी पाठ से अपरिचित पाठकों को यह भी भ्रम है कि नोबेल पुरस्कार प्राप्त 'गीतांजलि' भी बांग्ला 'गीतांजलि' की तरह अंग्रेजी छन्दबद्ध पद्यकृति है। लेखक इसका निवारण करते हुए सूचित करता है कि यह अंग्रेजी गद्य में है, परन्तु इसका प्रभाव काव्यात्मक है। लेखक ने अंग्रेजी अनुवाद सम्बन्धी भ्रामक धारणाओं का भी निराकरण किया है। पाठकों में लम्बे समय तक यह धारणा बनी रही कि 'गीतांजलि' का अंग्रेजी अनुवाद रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा नहीं, बल्कि आयरलैंड के विश्वविख्यात कवि डब्ल्यू. बी. येट्स के द्वारा किया गया है। प्रख्यात हिन्दी कवि एवं आलोचक मुक्तिबोध, कथाकार अमृतलाल नागर प्रभृति साहित्यकारों की भी यही धारणा थी।

इस सन्दर्भ में लेखक ने रोथेन्स्टाइन के कथन का उल्लेख किया है, जिन्होंने इस भ्रामक धारणा का खंडन करते हुए स्पष्टीकरण दिया है। सर्वप्रथम रोथेन्स्टाइन ने ही रवीन्द्रनाथ की रचनाओं को ब्रेडली, ब्रूक और येट्स तक पहुँचाया। उन्होंने 30 जून, 1912 ई. को अपने घर में एक गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें एजरा पाउंड, सिन्क्लेयर, अंडरहिल, सी. एफ. एण्ड्रूज आदि उपस्थित थे। रोथेन्स्टाइन ही अंग्रेजी 'गीतांजलि' के प्रकाशन के निमित्त बने। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी अंग्रेजी 'गीतांजलि' उन्हें ही समर्पित की है।

'गीतांजलि' के अंग्रेजी एवं बांग्ला पाठों पर तुलनात्मक विमर्श करते हुए लेखक ने अपना मन्तव्य दिया है कि गीति रचनाओं का अनुवाद गीत रूप में ही कर पाने को रवीन्द्रनाथ ठाकुर असम्भव मानते हैं और इसीलिए अपने गीतों का अंग्रेजी अनुवाद गद्य में करते हैं। लेखक कवि के अनुवाद को भी मूल सर्जना की तरह ही देखते हैं।

पुस्तक के तृतीय अध्याय में डॉ. देवेश ने 'गीतांजलि' के समस्त हिन्दी अनुवादों का सम्यक् एवं सन्तुलित विवेचन-विश्लेषण किया है। उन्होंने 'गीतांजलि' के प्रकाशित हिन्दी अनुवादों को तीन कोटियों में रखा है—देवनागरी लिप्यन्तर, गद्यानुवाद और पद्यानुवाद। मूल बांग्ला में रचित और प्रकाशित 'गीतांजलि' का प्रथम देवनागरी लिप्यन्तर इंडियन प्रेस, इलाहाबाद से 1914 ई. में प्रकाशित हुआ था। यह एक ऐतिहासिक परिघटना थी, क्योंकि 'गीतांजलि' का किसी अन्य भारतीय भाषा-लिपि में यह प्रथम प्रकाशित रूप है। 'गीतांजलि' के अन्य देवनागरी लिप्यन्तर क्रमशः शान्तिनिकेतन (1927), प्रभात प्रकाशन, मथुरा (1954), विश्वभारती ग्रन्थालय, कोलकाता (1957), नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ (1960), शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, सेंट्रल ब्रेल प्रेस, देहरादून (1961), श्री भारतेन्दु समिति, कोटा (1961), कुसुम प्रकाशन, मुजफ्फरनगर (2002), किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली (2010) द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। लेखक ने 'गीतांजलि' के 38 गद्य एवं पद्यानुवादों के भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किए हैं। साथ ही बांग्ला अथवा अंग्रेजी से 'गीतांजलि' के हिन्दी अनुवाद के क्रम में आनेवाली कठिनाइयों पर विशेष विमर्श प्रस्तुत किया है।

चतुर्थ अध्याय में डॉ. देवेश ने 'गीतांजलि' के हिन्दी गद्यानुवादों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर उनका विवेचन-विश्लेषण करते हुए अपना मत व्यक्त किया है। मूलनिष्ठ अंग्रेजी गद्याधारित अनुवादों की तुलना करते हुए लेखक ने निष्कर्ष दिया है कि काशीनाथ, श्रीदत्त शास्त्री एवं रमा तिवारी तीनों ही अनुवादकों की भाषा तत्सम शब्दावली से परिपूर्ण है एवं तीनों ने ही रचयिता को पुल्लिङ्ग रूप में प्रस्तुत किया है। भावानुवाद के सन्दर्भ में लेखक ने सत्यकाम विद्यालंकार, पृथ्वीनाथ शास्त्री, रूपनारायण पांडेय, राजेश दीक्षित और प्रतिभा मिश्र द्वारा किए गए 'गीतांजलि' के हिन्दी गद्यानुवादों में से कुछेक पदों के अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् निष्कर्ष दिया है कि पृथ्वीनाथ शास्त्री कृत भावानुवाद अपेक्षाकृत बेहतर है। लेखक ने

काका कालेलकर और गुरुदयाल मल्लिक के व्याख्यानवादों को सफल बताया है। उनके अनुसार दोनों ही 'गीतांजलि' के गीतों की सटीक और समुचित व्याख्या करते हैं। इनका उद्देश्य रसिकों को नहीं, बल्कि रवीन्द्रनाथ के सामान्य पाठकों को कवि की काव्य मनीषा से परिचित कराना है।

पाँचवाँ अध्याय 'गीतांजलि' के पद्यानुवादों का तुलनात्मक अध्ययन है। लेखक को पच्चीस पद्यानुवादों में से मात्र इक्कीस उपलब्ध हो पाए, जिनमें से अठारह अनुवादों का उन्होंने मूलनिष्ठता, पठनीयता, बोधगम्यता और प्रयोजनसिद्धि के आधार पर आकलन किया है। लेखक के अनुसार जीवनलाल प्रेम, भवानीप्रसाद तिवारी, श्यामलाल और व्यंकटराव यादव ने अपने अनुवाद अंग्रेजी पाठ के आधार पर किए हैं, जबकि अन्य अनुवादकों ने बांग्ला पाठ के आधार पर। इसलिए अन्य अधिकांश अनुवादकों ने मूल बांग्ला पाठ में स्वयं कवि द्वारा प्रयुक्त उन सभी शब्दों का समावेश अपने अनुवाद में बेहिचक किया है, जो हिन्दी भाषा में भी प्रचलित और स्वीकार्य हैं। अंग्रेजी पाठ मात्र का आश्रय लेनेवाले अनुवादकों की शब्दावली अंग्रेजी शब्दों के अनुवादस्वरूप है, इसलिए यह प्रायः मूल बांग्ला पाठ से भिन्न है। सभी अनुवादकों ने अपने अनुवादों में संस्कृतनिष्ठ तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है। तद्भव, देशज एवं विदेशज शब्दों का प्रयोग अत्यल्प है। अनुवादों में लोकभाषायी संपर्श प्रायः नहीं है। गीत के सभी अठारह पद्यानुवादों के विश्लेषण के क्रम में लेखक का मत है कि अपने अनुवादों में पूरी तरह गीतों के मूल भाव का निर्वाह करने में गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', मुरलीधर श्रीवास्तव 'शेखर', हंस कुमार तिवारी, महेशचन्द्र त्रिपाठी, डोमन साहु 'समीर', रणजीत साहा, राका डे और व्यंकटराव यादव ही सफल हो पाए हैं। शैली-शिल्प के सम्बन्ध में लेखक का मत है कि सभी अठारह काव्यानुवादों में विभिन्न अनुप्रास अलंकारों की छटा बिखरी हुई है। लेखक ने अनुवाद की कठिनाइयों को रेखांकित करते हुए मूल बांग्ला एवं कविकृत अंग्रेजी रूपान्तर के साथ हिन्दी अनुवादों की सोदाहरण तुलनात्मक व्याख्या की है।

पुस्तक का छठा एवं अन्तिम अध्याय, समन्वित अनुशीलन की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण अध्याय है, जिसमें अपने समस्त शोध का समाहार प्रस्तुत करते हुए लेखक ने पाठाधारित अनुवाद और भावानुवाद के निकष पर अपना निष्कर्ष प्रस्तुत किया है। लेखक ने यह भी देखने का प्रयास किया है कि मूल से समीक्ष्य अनुवादों के भाव-भाषा एवं शैली को अन्तरित करने में अनुवादकों को कितनी सफलता मिली है। लेखक की दृष्टि में अंग्रेजी गद्याधारित अनुवादों में काशीनाथ ने शब्दनिष्ठता और भावनिष्ठता का पारस्परिक निर्वाह करते हुए समुचित और समन्वित रूप से अनुवाद किया है। रमा तिवारी ने शब्दनिष्ठ एवं श्रीदत्त शास्त्री तथा सूर्यनारायण चौबे ने भावनिष्ठ अनुवाद किए हैं। बांग्ला पाठ को आधार बनाकर गीतों के भाव गद्य रूप में प्रस्तुत करनेवालों में पृथ्वीनाथ शास्त्री के अनुवाद को वे सर्वोत्तम मानते हैं। सत्यकाम विद्यालंकार, राजेश

दीक्षित और प्रतिभा मिश्र के अनुवादों में अधिसंख्य स्थलों पर मूल पाठ में अन्तर्निहित भाव से विचलन दिखाई पड़ता है। लेखक ने काका कालेलकर एवं आनन्दीलाल तिवारी के भावानुवाद को सटीक माना है। इस तरह गद्य और पद्य दोनों ही में बांग्ला और अंग्रेजी से 'गीतांजलि' के सरल, सहज, प्रवाहपूर्ण और सटीक अनुवाद अनेक अनुवादकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। लेकिन एक कमी की ओर लेखक संकेत करते हैं कि इसके हिन्दी अनुवादों में प्रायः संगीत पक्ष गौण है। उन्होंने यह जानकारी दी है कि 'गीतांजलि' के सोलह गीतों का हिन्दी रूपान्तर मूल संगीत को अक्षुण्ण रखते हुए दाऊलाल कोठारी द्वारा किया गया है, जो 'रवीन्द्र-संगीत-सुधा' नामक पृस्तक में संगृहीत हैं, जो राजस्थान परिषद, कोलकाता द्वारा प्रकाशित है और ये गीत हिन्दी के प्रतिष्ठित सुरसाधकों द्वारा गाए जाकर कैसेट और एलबम के रूप में उपलब्ध हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'गीतांजलि' के समस्त हिन्दी अनुवादों के साथ तुलनात्मक विमर्श का यह मौलिक एवं चुनौतीपूर्ण कार्य डॉ. देवेन्द्र कुमार देवेश ने बड़े परिश्रम से सम्पन्न किया है। मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ। पुस्तक रूप में यह शोधप्रबन्ध सामान्य पाठकों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के स्नातकोत्तर एवं शोधछात्र-छात्राओं के लिए भी उपयोगी है।

पाठकीय प्रतिक्रिया

‘चिन्तन-सृजन’ के माध्यम से जो कार्य हो रहा है, उसके लिए किसी औपचारिक प्रशंसा की आवश्यकता मैं नहीं समझता। वर्ष-9 अंक 3 में आपके सम्पादकीय का अंतिम वाक्य ‘आवश्यकता है भारतीय बौद्धिक परिवेश में बदलाव लाने की।’ उस प्रेरक भाव की ओर संकेत है जो ‘चिन्तन-सृजन’ के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। बदलाव की प्रक्रिया बहुत धीमी होती है लेकिन हम सब मिलकर उसे गति प्रदान कर सकते हैं।

वर्ष-9 अंक 2 में ‘आनंदमठ’ के बारे में सुधीर कुमार का लेख रचना को सही परिप्रेक्ष्य में देखने का आवश्यक प्रयास है। ‘बन्दे मातरम्’ का श्री अरविन्द द्वारा किया गया अंगरेजी अनुवाद प्रसिद्ध है लेकिन यह एक अल्पज्ञात तथ्य है कि श्रीअरविन्द और उनके अनुज वारीन्द्र कुमार घोष ने ‘आनंदमठ’ का अंगरेजी में अनुवाद किया था। यह अनुवाद पिछली शताब्दी के तीसरे-चौथे दशक में कभी छपा था, फिर कभी छपा ही नहीं। हाल में ही इसकी प्रति उपलब्ध हुई तो इसे यथावत् पुनर्मुद्रित किया है। इसकी एक प्रति आपके लिए भेज रहा हूँ।

वर्ष-9 अंक 3 में ‘शीतांशु’ का लेख डॉ. कुमार विमल के बारे में पढ़ा। मेरा डॉ. विमल से चार दशक पूर्व से सम्पर्क था। विचित्रता यह रही कि कभी उनसे प्रत्यक्ष भेंट नहीं हुई। फोन और पत्र सम्पर्क का माध्यम बने रहे। पत्रों में कई बार उन्होंने लिखा कि एक बार पांडिचेरी जाने का बहुत मन है। यह कभी संभव नहीं हुआ। उनके देहावसान का समाचार अंगरेजी दैनिक ‘हिन्दू’ में पढ़ा, किसी हिन्दी पत्र में वह छपा या नहीं, कह नहीं सकता। देहावसान से कुछ समय पूर्व फोन पर कह रह थे कि सौन्दर्यशास्त्र पर एक ग्रन्थ के संपादन में लगा हूँ। ऐसे विद्याव्यसनी साहित्य-साधक को प्रणाम करता हूँ मैं।

आपके प्रत्येक अंक का प्रत्येक लेख बौद्धिक परिवेश में परिवर्तन की सार्थक कोशिश है।

- सुरेश चन्द्र त्यागी,

सम्पादक: अदिति; रामजीवन नगर,
चिलकाना रोड, सहारनपुर-247001

‘चिन्तन-सृजन’ के अंक बराबर समय से मिल रहे हैं। यह पत्रिका निरंतर अपना स्तर बनायी हुई है। इसके स्तर का प्रथम परिचय ‘सम्पादकीय परिप्रेक्ष्य’ देता रहता है। ‘जनवरी-मार्च 2012 अंक के सम्पादकीय आलेख में तीन प्रकाशित पुस्तकों की समीक्षा को संदर्भित करते हुए श्री बी.बी. कुमार ने जो टिप्पणी दी है वह चिन्तनीय है “पश्चिम से आयातित वादों/सिद्धान्तों/ विचारों का भारत जैसे गुलाम रहे देश में अपनाने, उसे बिना पचाये उगलने का फैशन तो रहा ही है। - इसी बिना पचाये और फैशनिया प्रवृत्ति की तहत हमारे कुछ वाम धर्मी साहित्यकार लोकहित-देशहित को नकारकर कुछ भी लिखकर छप रहे हैं। “भारत विरोधी शक्तियों के गठबंधन में साथ देने वाले भारतीयों की भी कमी नहीं है।”

प्रो. रमेशचन्द्र शाह का आलेख ‘हिन्दी साहित्य में सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती पढ़कर तृप्त हुआ और रीझ-बुझ के साथ सांस्कृतिक स्वाधीनता की चुनौती को स्वीकार करने की प्रेरणा मिली। उन्हें साधुवाद है। उनकी यह स्थापना तथाकथित बुद्धिजीवियों आधुनिक मिजाजी साहित्यकारों के इस भ्रम को तोड़ती है कि भक्तिकाल केवल करताल-खजुरी बजानेवालों के गाने का साहित्य है। नहीं, यह जागरण का साहित्य है और जागरण का काल है। विद्यापति, कबीर, सूर तुलसी सबने जगाया है। इसी परिप्रेक्ष्य में प्रो. शाह का यह मौजूँ मन्तव्य है -“एक विजातीय सभ्यता के आक्रमण से मिला मर्माघात किस तरह एक समूचीसंस्कृति की आच्छद प्राय आत्म-प्रत्यभिज्ञा को उकसाने-जगाने का निमित्त बन जाता है’ भक्ति आन्दोलन इसका जीता-जागता उदाहरण है। वह सच्चे अर्थों में एक देश-व्यापी पुनर्जागरण था, जिसकी अनिवार्य शर्त थी - एकदम नीचे से, लोक-जीवन और लोक-भाषाओं के भीतर से संस्कृति के आत्म-नवीकरण को संभव करने वाला आन्दोलन।” बहुत सारी चुनौतियों की ओर यह आलेख ध्यान आकृष्ट करता है। इन चुनौतियों का उत्तर क्रिया द्वारा देना भारत प्रेमी नागरिकों का कर्तव्य बनता है।

डॉ. कुमार विमल का अमरत्व वरण जानकर दुख हुआ। हमारी श्रद्धांजलि है। पाण्डेय शशिभूषण ‘शीतांशु’ जी ने अपने आलेख द्वारा सारस्वत श्रद्धांजलि दी है। उसके लिए उन्हें साधुवाद है।

‘साम्प्रदायिकता बनाम भारतीयता’ के. मोहनन पिल्लै का आलेख भी ध्यान आकृष्ट करता है। जैसे ‘गर्व से कहो कि हम हिन्दू हैं, यह कहने में लोग लजाते या डरते हैं वैसे ही प्रो. पिल्लै का यह मन्तव्य ठीक है कि “वैश्वीकरण के कारण स्वतंत्र भारत की भोगलिप्सा बढ़ गई है। स्वतंत्र भारत भारतीयता को छोड़कर पाश्चात्य सभ्यता को स्वीकार करता है। फलतः एक भयभीत भारतीयता का भाव सब कहीं फैल रहा है।” (पृ.55)

अच्छे-अच्छे आलेखों से यह पत्रिका 'चिन्तन-सृजन' नाम को अन्वर्थता प्रदान करती रहे, इस शुभकामना के संग सम्पादक मंडल को साधुवाद।

- शोभकान्त झा,
कुशलपुर, रायपुर (छ.ग.)

... 'चिन्तन-सृजन' हिन्दी साहित्य की एक उत्कृष्ट पत्रिका है। इसके लेख गंभीर एवं विचारोत्तेजक होते हैं। जनवरी-मार्च 2012 अंक में प्रकाशित श्री शंकर पुणतांबेकर का आलेख 'कला' लेखक की सुलझी हुई वैचारिक दृष्टि को दर्शाता है जो सतत चिन्तन से प्राप्त होती है। मेरी ओर से लेखक को बधाई। ...

- अंजना वर्मा,
कृष्णटोला, ब्रह्मपुरा, मुजफ्फरपुर-842003

आपकी पत्रिका नियमित रूप से मुझे प्राप्त हो रही है। 'चिन्तन-सृजन' पत्रिका जगत में एक महत्वपूर्ण स्थान बना चुकी है। उसमें प्रकाशित लेख तत्कालीन स्थिति को उजागर करते हैं। साथ ही नये विचारों की प्रेरणा भी करते हैं। अन्ना आंदोलन के जो विचार रखे गये, वे स्वीकार्य हैं। इतना ही नहीं साहित्य में आज तक जो अनछुआ पड़ रहा है उसे उग्रता मिलती है। इस बात से मैं एक पाठक के रूप में प्रसन्न हूँ। पत्रिका वैश्विक स्तर पर अपना स्थान बनाये ऐसी अभ्यर्थना। ...

- डॉ. बिनज जी. घेटिया 'समर्पण',
तिरुपति सोसायटी, जामजोधपुर-360530
जिला: जामनगर (गुजरात)

मैंने 'चिन्तन-सृजन' के एक अंक का अवलोकन अपने एक मित्र के निवास पर किया। पत्रिका मुझे सर्वतोभावेन उपयोगी तथा भारतीय मूल्यों के अनुकूल लगी। सह सम्पादक डॉ. शंकर शरणजी के आलेख में पाञ्चजन्य तथा राष्ट्रधर्म में पढ़ता रहा हूँ। अतः आपसे निवेदन है कि पत्रिका का नया अंक भेजने की कृपा करें। मैं पत्रिका से पाठक व लेखक दोनों स्तरों पर जुड़ने का प्रयास करूंगा।

- डॉ. रामसनेही लाल शर्मा,
86, तिलक नगर, बाईपास रोड़, फीरोजाबाद-283203।

'चिन्तन-सृजन' का श्रेष्ठतम रूप हमें इस त्रैमासिक 'चिन्तन-सृजन' में मिल रहा है। श्रेष्ठ शोधलेख प्रभावित करते हैं। तथ्यों की प्रामाणिकता लेखों को अधिक सार्थक

बनाती है। आपका श्रम सार्थक है, परंतु इस पत्रिका को और अधिक प्रसारित किए जाने की आवश्यकता है, जिससे यह शोधार्थियों के हाथों में भी पहुँच सके।

- प्रो.(डॉ.) शरद नारायण खरे,

विभागाध्यक्ष इतिहास, शासकीय महिला महाविद्यालय,
मंडला-481661(म.प्र.)

‘चिन्तन-सृजन’ अक्टूबर-दिसम्बर 2011 पढ़कर आध्यायित हुआ और लगा कि पत्रिका सामाजिक- राजनीतिक आर्थिक समस्याओं से उतना संलग्न नहीं है जितना साहित्यिक गतिविधियों और सर्जनात्मकता से। परंतु जो भी लेख, समीक्षाएँ प्रकाशित हैं उनमें लेखकीय दृष्टि की मौलिकता, कथ्य के ज्ञान की गंभीरता का पता चलता है।

इस अंक में डॉ. बालेंदु शेखर तिवारी का एक ही लेख इस बात का प्रमाण है कि उन्हें प्रेमचंद साहित्य का कितना गंभीर ज्ञान है। ‘कफन’ को इस दृष्टि से समझा जा सकता है कि उसमें पूरा प्रेमचंदपन समा जाए। उनकी अन्य कहानियों, व्याख्याओं, विविध प्रसंग, महाजनी सभ्यता का हवाला देकर यह सिद्ध किया गया है कि प्रेमचंद की मानसिकता और उनके उद्देश्य का वह अविकृत दर्पण है। मृत्यु को इतना भयावह और जुगुप्सामय बनाकर दिखाना उनकी अनिवार्यता है। कला की माँग है। डॉ. बालेंदु ने ‘लाश की दुर्गति’ शीर्षक प्रेमचंद की टिप्पणी अंकित की है। वास्तविकता चाहती है कि आर्टिस्ट दुनिया को उसी तरह दिखाएँ जैसा वह उसे देखता है। अगर उससे मानव-अनुभूतियों पर आघात पहुँचता है तो पहुँचे। तत्कालीन सामाजिक चेतना की ऐसी प्राणवंत अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। लेखक की, आलोचकीय क्षमता की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। सबको साधुवाद।

- प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय,

धनबाद।

प्राप्ति-स्वीकर

पिछले अंको में सूचीबद्ध पुस्तकों/पत्रिकाओं के अतिरिक्त प्राप्त नई पुस्तकें/पत्रिकाएँ:

पुस्तकें

उन्मन, प्रो. विमला उपाध्याय; प्रकाशक: सूर्यप्रभा प्रकाशन, शो-रूम: 2/9, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002; प्रथम संस्करण: 2012; पृष्ठ: 200; मूल्य: 350/- रुपये।

रचना का अन्तरंग, नन्दकिशोर आचार्य; प्रकाशक: सूर्य प्रकाशन मन्दिर, नेहरू मार्ग (दाऊजी रोड) बीकानेर; संस्करण: 2012 ई.; पृष्ठ: 168; मूल्य: 300/- रुपये।

भारत की जातीय पहचान: सनातन मूल्य, कृष्ण बिहारी मिश्र; प्रकाशक: सस्ता साहित्य मंडल, एन-77,

पहली मंजिल, कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001; प्रथम संस्करण 2011; पृष्ठ: 252; मूल्य: 150/- रुपये।

हिंदी कविता : स्वप्न और संघर्ष, डॉ. रामसजन पाण्डेय; प्रकाशक: गौरव बुक्स, के.-4/19, गली नं. 5, वैस्ट घौंडा, दिल्ली-110053; प्रथम संस्करण 2011; पृष्ठ: 200; मूल्य: 80/- रुपये।

Anandamath Bankim Chandra Chatterjee; Translated from Bengli by Sri Aurobindo and Barindra Kumar Ghosh; Ashir Prakashan, Ramjiwan Nagar, Chilkana Road, Saharanpur-247001; Page: 204; Price: Rs. 200/-

Swami Dayananda, Sri Aurobindo, Publisher: All India Books, P.O. Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry-605002.

चिन्तन-सृजन का स्वामित्व सम्बन्धी विवरण

फार्म 4

नियम 8

1. प्रकाशन स्थान : दिल्ली
 2. प्रकाशन अवधि : त्रैमासिक
 3. स्वामी : आस्था भारती, नई दिल्ली
 4. मुद्रक : राजेश भार्गव
कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
 5. प्रकाशक : राजेश भार्गव,
कार्यकारी सचिव, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
 6. सम्पादक : डॉ. बी. बी. कुमार
सम्पादक, आस्था भारती
(क्या भारत के निवासी हैं?) हाँ, भारतीय
पता 27/201, ईस्ट एण्ड अपार्टमेंट
मयूर विहार फेस-1 विस्तार
दिल्ली-110096
- मैं राजेश भार्गव घोषित करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सही है।

(ह.) राजेश भार्गव
प्रकाशक

28.5.2012

*We Strive
to Satisfy
Our Customers*

VASUNDHARA MARKETING CO.

Sales Tax No. LC/13/017261/1080

 3277883 (Off.)

Regd. Office
**1/3575, Netaji Subhash Marg
Darya Ganj, New Delhi-110002**

With Best Compliments

from

VASUNDHARA IMPEX (P) LTD.

Administrative Office

LG-69, World Trade Centre,
Babar Lane, New Delhi-110001

Regd. Office

1/3575, Netaji Subhash Marg,
Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone Off. 3277883, 3711848